प्रकाशक :
सप्तकिरण प्रकाशन,
उदयपुर - ब्यावर



प्रथम संस्करण
१९५५
मूल्य २)

मुद्रक :
रामस्वरूप मिश्र,
मनोहर प्रिन्टिंग प्रेस,
ब्यावर



## तारतम्य



प्राप्तिस्थान और पत्र-व्यवहार—

सप्तकिरण प्रकाशन

नन्द चतुर्वेदी,
टीचर्स ट्रेनिंग कॉलिज,
उदयपुर (राजस्थान)

::

ज्ञान भारिल्ल,
छिपरली मोहल्ला,
ब्यावर (अजमेर राज्य)

# सम्पादकीय

"सप्त-किरण" राजस्थान प्रान्त के [illegible]
एक साथ पहली ही बार प्रकाशन है। [illegible]
संस्कृति की प्रशस्तियां सुनने का सुयोग प्राप्त [illegible]
राजस्थान प्रान्त के डेढ़ करोड़ नर-नारी [illegible]
की भावना नित्य नवीन परिवेश धारण करने लगी। [illegible]
राजस्थान का शौर्य केवल तलवार तक ही [illegible]
असीम, अजानी कामनाओं को प्रकाशित करने में [illegible]
अद्भुत तो प्रतीत होता है कि इतने [illegible]
कहां था जो यों प्रकट हुआ. किन्तु, [illegible]
की गहराइयों में जो सनातन है, वह केवल [illegible]
गूढ़तर है जो काल के सभी [illegible]
तो युद्ध के और आक्रमण के बीच, तलवार और [illegible]
विरह और मिलन के इतने मीठे गीत गाये [illegible]
वाली तसवीरें बना दीं। तो यह प्रश्न [illegible]
की चर्चा है उसी के अनुरूप वर्तमान [illegible]
की चर्चा मात्र से तो वर्तमान की [illegible]
की रचना होगा, उसकी [illegible]
करना पड़ेगा, और इस तरह [illegible]
एक यह प्रश्न था।

[illegible]

को जो लोग घेरे थे, उन तक पहुँचने की गति, उन गलियों को पार कर जाने की दिशा नजर नहीं आती थी। यह अवलम्ब सरकार का था—वह सरकार जो इस प्रान्त पर सात वर्ष से शासन कर रही है। प्रति वर्ष ही इस तरफ लालसा लगी रहती कि शायद कुछ इस वर्ष और यदि इस वर्ष नहीं तो कदाचित् दूसरे वर्ष, और यों ही ये रीते सात वर्ष व्यतीत हो गये। प्रान्त में नित्य नवीन गीत गूँजते रहे, काव्य रचना होती रही, कवि सम्मेलन के मंचों पर नये मित्र मिलते रहे पर सभी तरफ यही सुनसान। सुना, सराहा, समाप्त हो गया। किन्तु साहित्य की यह दिशा नहीं होती। उसे जनता तक पहुंचाना होता है, उसे जन-मन धारण करता है और उन धारणाओं से नवीन जीवन की सृष्टि होती है। साहित्य का पथ यह है। समाज छोटा होता तो शायद कवि गोष्ठियों से काम हो जाता, समाज के समक्ष सरल प्रश्न और प्रसंग होते तो शायद सुन सुन कर लोग काव्य को कंठाग्र कर लेते, किन्तु, सृष्टि के विपुल प्रसंगों के बीच और समाज के उत्तरोत्तर विकास के साथ उसे लोगों तक पहुँचाने का पथ पुस्तक है। यह पुस्तक छापे कौन! छापना सरकार को चाहिए था, किन्तु, सरकार यह करने में सफल नहीं हो सकी। यह दायित्व उसका था जो वह निभा नहीं सकी। यदि इस कार्य के लिए सरकार दूरदर्शी होती तो अभी तक प्रान्त की साहित्यिक गतिविधियों को, प्रान्तोपयोगी रचनाओं को अवश्य ही प्रकाशन मिल गया होता। विभाग के तत्त्वावधान में योजनाबद्ध होकर निकलने वाली यही 'सप्त किरण' कितनी सुन्दर, व्यवस्थित और परिपूर्ण होती? अब तक इस प्रकार कितनी 'सप्त किरणें' निकल प्रान्त में एक वातावरण तैयार हो गया होता। यह साहित्यिक वातावरण हमारे जीवन को तब स्वतन्त्र चिन्तन, गौरवमय जीवन, और राष्ट्र निर्माण की दिशा में किस तरह आकर्षित करता, यह देखते ही बनता। अब भी विपुल साहित्य है जो प्रकाशन चाहता है। अब भी अनेक सप्त किरणों की सामग्री है जो बिखरी पड़ी है—शासन इधर कृपा करे तो। बात यों छोटी सी है, किन्तु, पूरी न हो सकने के कारण बहुत बड़ी लगती है।

जो हो, कुछ इस प्रकार 'सप्त-किरण' का प्रारम्भ होता है। एक आकांक्षा की तृप्ति के लिये जो बनता है वह परिपूर्ण नहीं होता, उसे योजना नहीं कह सकते। वह एक दिशा होती है, एक संकेत होता है। 'सप्त-किरण' का प्रकाशन कोई परिपूर्ण योजना नहीं है, एक दिशा है, सचमुच ही एक घटना है। सात कवि-मित्रों का एक प्रयास है। हम सातों में से कोई नहीं जानता 'सप्त-किरण' के बाद क्या होगा? क्या होना चाहिये? हमने यही जाना है कि 'सप्त किरण' समूह रूप में हमारे प्रान्त की प्रतिभा को साहित्यिक-रूप दे रही है। इसलिये उसे प्रकाशित करना चाहिये। हमने

जाना कि हमारे प्रयास हिन्दी जगत के [illegible] इसलिए '[illegible]' प्रकाशित करनी होगी। हमने जाना कि इस प्रकार का संकलन [illegible] के लिए राजस्थान का प्रतिनिधित्व करने को नहीं है, होना चाहिये। इसलिए '[illegible] किरण' आवश्यक है। इस आवेश में 'सप्त-किरण' का प्रकाशन हुआ। [illegible] इसके पीछे कोई आर्थिक कारण नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक कारण है—[illegible] की प्रतिष्ठा का और बहुत कुछ आत्म-प्रकाशन का।

अवश्य ही इधर ज्यों ज्यों प्रकाशन पूर्ण हुआ जा रहा है [illegible] इच्छा मन में जाग रही है कि तुरन्त ही प्रान्त के [illegible] '[illegible] किरण' के लिये निमंत्रण किया जाय। इस निवेदन में [illegible] किया चाहता हूँ कि प्रथम 'सप्त-किरण' का [illegible] सात कवि हैं। इधर कई मित्र छूट गये हैं जो प्रान्त में [illegible] शिल्पी हैं, किन्तु 'सप्त-किरण' की जो [illegible] होने की सम्भावना नहीं थी। अस्तु, यह सात कवियों की मर्यादा। दूसरी '[illegible]' में भी यही मर्यादा है किन्तु [illegible] कि सारे कवि बन्धु एक ही पुस्तक में [illegible] तरह किन्तु इस सौभाग्य को इन [illegible] '[illegible]' एक बड़ा साहित्य-परिवार चाहती है—[illegible] कहानीकारों, गद्यगीतकारों, आलोचकों निबन्ध [illegible] प्रवृत्तियों में अनुराग रखने वाले मित्रों [illegible] कृपा, सहानुभूति और उदारता रखने की प्रार्थना है। [illegible] कारों का कारवां बढ़े, किसी मंज़िल पर [illegible]।

संकलन में लगभग इकहत्तर [illegible] का अधिकार आलोचक का है। [illegible] उस परिपक्वता पर नहीं पहुँचा [illegible] उठकर हाथ पकड़ लिया है। [illegible] तरह सब कवियों की [illegible] धारण करने वाले शिल्प का [illegible] किसी शिल्प के साथ [illegible] है सफल [illegible] कठिन होगा किन्तु [illegible] कहीं भी नहीं [illegible]

को झांकने वाली, सब तरफ़ निहार कर सब के स्वरूप को छन्दोमयी वाणी देने वाली ये रचनाएँ सभी साहित्यकारों के लिए कौतुकमयी होंगी।

'सप्त-किरण' के प्रकाशन में जाने-अनजाने कई मित्रों का सहयोग, उनकी शुभ कामनायें साथ हैं। इस विचार को प्रान्त के सभी साहित्यकारों का आशीर्वाद मिला है और यही कारण है कि इस प्रकाशन को यह रूप प्राप्त हुआ है। प्रान्त के मौन और यश-कामना से निर्लिप्त आलोचक और कहानीकार श्री विष्णु दा ने इन कविताओं की जो विवेचना की है, यह उनकी कृपा है। श्री गोवर्धन जोशी ने जो आवरण पृष्ठ की रूप-सज्जा की है उसका ससम्मान स्मरण करता हूँ और आभारी हूँ। 'सप्त-किरण' का प्रकाशन सर्वथा कठिन ही होता यदि मुझे साहित्यानुरागी पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की कृपा नहीं मिली होती। उन्होंने 'सप्त-किरण' के प्रूफ रीडिंग से लेकर प्रकाशन तक जो सहायता दी वह अविस्मरणीय है। पं० रामस्वरूपजी मिश्र संचालक मनोहर प्रिन्टिङ्ग प्रेस ने पुस्तक को शीघ्र छाप देने और सुन्दर बनाने में सब तरह सहायता दी है—साभार स्वीकार करता हूँ।

मुझे आशा है साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रयास को आदर, अनुराग और आशीर्वचन देने वाली राजस्थान प्रान्त की जनता को 'सप्त-किरण' का प्रकाशन अवश्य ही प्रिय लगेगा।

विद्या-भवन टीचर्स कॉलेज,
उदयपुर (राजस्थान)

नन्द चतुर्वेदी



# प्रथम सप्त-किरण का परिवार—

विवेचक :—

विष्णु अम्बालाल जोशी एम० ए०, [illegible] हिन्दी [illegible], [illegible] कॉलेज, अजमेर। प्रान्त के प्रौढ़ कहानीकार, [illegible] [illegible] में विशेष रुचि।

कवि कमलाकर :—

चम्बल तट का कवि। [illegible] ब्रज तथा खड़ी बोली में समान [illegible] 'एकोऽहम्' गद्य-गीत का [illegible] धरती के [illegible] का प्रिय [illegible]।

कवि कुलिश :—

प्रान्त की राजधानी का [illegible] का सम्पादक। [illegible] वाला। [illegible] छोटे छोटे गीतों में [illegible]

कवि कन्हैयालाल सेठिया —

प्रान्त के [illegible] वाणिज्य-व्यवसाय [illegible] 'दीप किरण' आदि। [illegible]

कवि [illegible] चतुर्वेदी :—

[illegible]

कवि प्रकाश आतुर :—

प्रान्त की ऐतिहासिक नगरी उदयपुर का कवि। इस समय शिक्षा-भवन, उदयपुर में प्रधानाध्यापक। काव्य में नवीन उल्लास, उत्साह का स्वर संयोजक। उम्दा अभिनेता तथा फुटबाल का खिलाड़ी।

कवि डॉ० सुधीन्द्र :—

प्रान्त का स्वर्गीय विभूतिमय कवि। चम्बल-प्रदेश कोटा के समीप रामगंज में जन्म। साहित्य की वरिष्ठ उपाधि '*Ph. D.*' प्राप्त। मृत्यु के समय केवल अड़तीस की आयु। रूप-रस-रोमान का आराधक। काव्य में रागात्मक पक्ष का समर्थक। युगवादी और युग-युगवादी गीतों का स्वरकार। यशस्वी गद्य लेखक, आलोचक, अध्यापक। मृत्यु के समय हिन्दी विभाग अध्यक्ष, गवर्नमेन्ट कोलिज, अजमेर। परिवार का पता:— श्रीमती डा० सुधीन्द्र, कृष्णायन दयालबाग, आगरा (उत्तर-प्रदेश)।

कवि ज्ञान भारिल्ल :—

अजमेर प्रान्त का प्रतिनिधि कवि। 'ज्वार' (गीत-संग्रह) का लेखक। इस समय गुरुकुल ब्यावर में अध्यापक। रूप-रोमान का पक्ष समर्थक। काव्य में अनुभूति मय स्वरों का छन्दकार। जैन दर्शन के प्रति विशेष रुचि। स्वभाव से—विद्रोही।

---

# विवेचना :-

—⊙—

कहते हैं संगत का फल मीठा होता है — यह [illegible] भी जीवन का एक लम्बा समय ऐसा बीता है कि मुझे [illegible] कवियों के साथ उठने-बैठने तथा उनको सुनने-गुनने का मौका मिलता रहा है। [illegible] सम्मेलन हुए हैं, तब तो ऐसा हुआ ही है, पर बाद ही में [illegible] भी सम्पर्क का लाभ पाता रहा हूँ। कवि-गोष्ठी तथा कवि-सम्मेलनों के [illegible] में, भरसक प्रयत्न कर, भाग लेता रहा हूँ और नव-युग की नई-पुरानी [illegible] विविध झंकारों से [illegible] हुआ हूँ। इसी सिलसिले में [illegible] ऐसा भी हुआ है कि मेरी मौन-रसास्वादन-वृत्ति के प्रति उदारता प्रकट करते हुए [illegible] के संचालन का भार मुझ पर डाल दिया गया और [illegible] मानना पड़ा। यों अपनी कोमल [illegible] नहीं, क्योंकि मैं समझता रहा हूँ कि यह सब आतुर परिस्थितियों की [illegible] रहा है। पर आज जिस विषम स्थिति में मुझसे [illegible] रहा हूँ वह जरूर चिन्तनीय-सी [illegible]। शायद, [illegible] व दीनता को भी संगत के मीठे फल का यह प्रसाद [illegible] बहुत पहिले की एक घटना याद आती है—[illegible] ने अपनी व्यक्तिगत पराजय का प्रतिशोध लेने के [illegible] राजपूतों को टोह लेनी चाही और इस क्षोभ में [illegible] लुब्ध हुए, जो पेड़ की जिस डाली पर बैठा हुआ था उसे ही कुल्हाड़ी से काट रहा था। विद्वत्-भट्टों ने उसे सजा-धजा कर राजकुमारी के स्वयंवर में उपस्थित किया। स्वयंवर का भव्य व विराट आयोजन था। [illegible] कि [illegible] विशारद राजकुमारी के जो तीन प्रश्नों का समुचित उत्तर दे देगा, उसी के गले में वह वर-माला डालेगी। देश-देशान्तर के महान पंडित [illegible]

और उन्हीं की मंत्रणा तथा प्रयत्न से आज राजकुमारी के सम्मुख यह मूर्ख महापण्डित की वेशभूषा में उपस्थित हुआ है। वह था एक भावुक कवि और उसकी शास्त्रीय-ज्ञान-शून्यता तथा उसकी दयनीयता में उन दिग्गजों ने अपनी सफलता का गहरा तोष प्राप्त किया। जैसे आज ठीक उल्टा काण्ड रचा जा रहा हो! क्या कविगण आज एक जड़-मूर्ख को शास्त्री-लिबास से सुसज्जित कर काव्य-वेदी पर नहीं खड़ा कर रहे हैं? उनका चुनाव ठीक ही हो! इतना जरूर है और मैं अपनी वेकली के बावजूद भी उन्हें आश्वस्त कर सकता हूँ कि आखिर में उन्हें अफसोस नहीं करना पड़ेगा। मुझे जो अपनी मनोवृत्ति के खिलाफ बोलने की भी सुविधा दी है, गो वेचारे कवि कालिदास को तो वह स्वतन्त्रता भी नहीं दी गई थी, वह अनायास आज 'उट्र' जैसी उज्जड़ झड़ी लेकर फूट पड़ेगी इसमें कोई शक नहीं। महाकलाकार ब्रह्मा ने भी ऐसी ही स्वतन्त्रता अपने स्व-कृत आलोचक को दी थी और उसने अपनी वाक्-शक्ति का मूर्खतापूर्ण ही प्रदर्शन किया था।

मुझे सजग रहना है, कविगण द्वारा दिये गये दायित्त्व के प्रति। इसीलिए मौन तोड़ने का सुयोग पाकर भी मैं चाहता हूँ कि बोलूं तो सम्हलकर, चाहे जो कुछ कहा जावेगा वह आखिर होगा खटराग ही।

सम्हलने का तकाजा मैं अपने लिये जरूरी मानता हूँ। कारण अभी जो कुछ थोड़ा-सा कहा गया है उसमें भी अनायास गलती हो गई है। मैं स्वयं अनुभव करता हूँ कि मैंने अनचाहे अपने कवि-मित्रों के ऊपर एक आक्षेप कर दिया है। मुझे चुनने में उनका यह अभिप्राय तो कतई नहीं रहा है कि वे आज कवि कालिदास का बदला चूकता करना चाहते हों। कवि कालिदास स्वयं सामर्थ्यवान थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा-प्रसाद से क्या यह सिद्ध नहीं कर दिया कि वे विद्वत्-जन आखिर अपने जड़मूर्ख-चुनाव में स्वयं जड़मूर्ख रहे, मेरे कवि-मित्र इस बात से अवगत न हों, ऐसा मैं नहीं मानता। मानूँगा तो वह मेरी दूसरी गलती होगी। मेरी धारणा तो यह बन गई है कि विद्वत्-जन (यानी ज्ञान-सम्पन्न आलोचक) कवि कालिदास के उस शाखा-काण्ड को बाहरी व एकांगी स्वरूप में देखकर ही अपने तर्क के उलझे सूत्र-जाल में एवं भ्रमपूर्ण तथ्य पर पहुँच गये थे और उसके उन्माद में जिस व्यक्ति को वे जड़मूर्ख की तरह राज-स्वयंवर भूमि की ओर ले जा रहे थे, वह एक क्रांतदर्शी जन-जीवन स्रष्टा था। जैसे शाखा-काण्ड पर ये विद्वत्-जन, उसी प्रकार 'उट्र' ध्वनि पर कुशाग्र-बुद्धा अभिज्ञाता विद्योत्तमा अपनी ज्ञान-खुमारी में धोखा खा गई। वस्तुतः शाखा-काण्ड के पीछे जो 'जन-मंगल-हेतु

अनासक्ति साधना का त्याग व तप है और '[illegible]' [illegible]
निहित है—इसके वैभव से मंडित ही कान्ह केलि होती है [illegible]

यह मूल भक्ता के आलोचक से लेकर [illegible] कहा जा सकता है ? दशानन होकर भी [illegible] से आक्रान्त रहा, इस रूपात्मक ज्ञान को देखकर [illegible] अहं तुष्ट नहीं हुआ। और जीवन की ज्योति इस धरती से [illegible] उतरी, उसके स्पर्श से प्रवीर एक बालक [illegible] में उपस्थित हुआ तो वह अपने सारे ज्ञान के बावजूद भी [illegible] पूछ सका, 'कौन राम ?' और [illegible] गोपियाँ बेचारी [illegible] नयनों के लिए विधाता को कोसती हुई थीं, चाहती हुई थीं [illegible] प्रति साँसों' कृष्णमय हो गईं। 'बाँसुरी' की तान को सुन के [illegible] मर्यादा को तोड़कर यमुना-तट की मधुवन-भूमि पर [illegible] भोक्ता बनीं। एक दृष्टि से लोक-वेद-मर्यादा तोड़ना तथा बाँसुरी की तान पर [illegible] कम मूर्खता नहीं है; दूसरी ओर इससे बड़ी साधना भी और क्या है ? [illegible] तुलसी की चेतावनी देने पर भी उसका स्वामी राम नहीं। [illegible] रेखा दूसरी खींचो'। श्री विनोबा ने लिखा है कि 'मैं ज्ञानी' यह भी [illegible] 'मैं मूढ़' यह भी अहंकार, इस अहंकार में पड़कर हम [illegible] हैं, कहते हैं यह ऐसी है, वह ऐसा है ! हमारे हृदय से [illegible] करता है और कथन में उसकी ही ध्वनि गूंज उठती है। [illegible] के द्वार पर आये हुए याचकों में से दुर्योधन [illegible] दिया कि जो दान के योग्य हो। [illegible] दिया। दुर्योधन की यही वृत्ति थी जिसने [illegible] से यादव सेना की मांग करवाई थी। [illegible] महानाश में विलीन हो गईं। वहीं तो [illegible] बना था अर्जुन का गाण्डीव—क्योंकि अर्जुन जीवन [illegible]

१— [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

—[illegible]

को सूक्ष्म बीजवत् तथा साथ ही विराट-रूप में देख सकने में सफल हुआ था। यह तो बुद्धि व भावना के समन्वय की उदात्त स्थिति में कर्म-लीला के वैभव की बात हुई। राम और कृष्ण के कर्मयोगी स्वरूप को समझने के लिए भी भरत और अर्जुन का पूर्ण व्यक्तित्व चाहिए। ऐसी पूर्णता की साधना जहाँ नहीं होती, वहां कालिदास मूर्ख ही प्रतीत होगा। धरती को छोड़कर जो पदार्थ-वैभव रूप शाखा को अपना आधार बना कर अहं के झूले में झूलता है और शिष्ट-वाणी के फल-फूलों का भोग करता है, वह यह भूल जाता है कि जड़ अगर धरती से ग्रहण तथा अपने दान की मंगल-क्रिया को त्याग दे तो फिर उन शाखा-भोक्ताओं की क्या स्थिति होगी ?[1] वे गाफिल हैं, वे भूल सकते हैं। पर समाज वृक्ष की उस शाखा को, जो आधारवत् है, पर है भारयुक्त जर्जरित, तोड़ने वाले बिरले ही व्यक्ति होते हैं और वे ही जन जीवन-सागर से मंगल कलश में अमृत भर कर उसकी जड़ों को सींचते हैं[2] कि वह फिर वसन्त के नवविकास के ऐश्वर्य को धारण कर सकें तथा कोकिल की काकली से ध्वनित हो सकें। हर युग में ऐसी प्रतिभाओं के दर्शन होते रहे हैं—चित्तौड़ किले की राजरानी के पद-गौरव को मीरां ने, रत्नावली-ऐहिक-सुख के मन-मन्दिर को तुलसी ने, और कायिक-सौन्दर्य-लिप्सा की विछलन में गिरे नेत्रों को सूर ने चूर चूर कर दिये,—ये घटनायें थोड़ी दूर की हैं; पर इधर गत-शताब्दी में ही एक ऐसा ही तरंगी व्यक्ति अपने अतुल धन-धान्य-पूर्ण विशाल-भवनों में आग लगा कर धरती पर उतर आया था। तमाशबीन लोगों का मनोविनोद हुआ, समझदारों ने अज्ञानी का खिताब दिया, पर वह शिव की नगरी काशी में उस ध्वंस की राख पर अपनी साधना-पीठ बना कर बैठ गया। उसके फिर एक अमृत-बिन्दु के दान से यह-वह शाख ही नहीं पूरा

---

१— जड़ का ग्रहण फलों में जाकर
दान मधुर बन जाता,
उर का सत्य अधर पर आकर
गान मदिर बन जाता।

—सेठिया

२— मृत्तिका के कुछ कणों में
लिया अमृत बांध मैंने,
कलश के कुछ बिन्दुओं में
सिन्धु पाया साध मैंने।

—सुधीन्द्र

वृक्ष ही पुनः पल्लवित हो गया और वे नवागन्तुक तथा [illegible] आगे आदर देते हुए भारतेन्दु पद पर पुकारने लगे।

तो यह शाखा-कम्प और यह रुद्र-घोष कोई साधारण घटना नहीं है, यह यह सूचना देती है कि अब शीघ्र ही शिव के मस्तक से [illegible] प्रवाहित होने वाली है, जीवन-[illegible] लहरें भरने वाला है, [illegible] पूत होने वाले हैं और प्रकृति का [illegible] नया ही रूप [illegible] वाला है।[1] अतः शाखा-कम्प एक मौन तपस्वी की [illegible] का [illegible] रूप है और रुद्र-घोष उसके नव-स्पन्द की सहज अभिव्यक्ति का [illegible]। [illegible] के अधिकांश कवियों में ऐसी प्रतिभा नहीं थी इसीलिए उनकी [illegible] होकर अपनी लाज-लज्जा में [illegible] रह गईं, तो ये कुछ [illegible] भी नहीं है।

कला स्रष्टा है और उसका आलोचक द्रष्टा, तो यह आलोचक अपने को द्रष्टा-मात्र मानकर जो कुछ कहेगा, करेगा वह [illegible] होगा, [illegible] होगा। कला रचना करता रहेगा और आलोचक [illegible] अपनी बौद्धिक शक्ति द्वारा ऊहापोह करता हुआ [illegible] कि कला की एक कृति पर आकर उसे विवश [illegible] कि यह है पूर्ण सुन्दर, पर उसके मध्य भाग में एक [illegible] की बात जान सकता। अपनी जीवन-दर्शन [illegible] इससे अधिक स्पष्ट स्वीकारोक्ति और क्या हो सकती है? [illegible] में ही यह गति-मति प्रकट होती है जो द्रष्टा के लिए [illegible] है। [illegible] सम्भावना हो सकती है कि जब कला की [illegible] रूप-वैभव में वह तन्मय होकर ऐसी भाव-स्थिति में पहुँचे और [illegible] कर सके कि कला की तरह उसका हाथ भी [illegible] हृदय को घुमा रहा है, उसकी उँगलियाँ [illegible] एक आकार, एक रूप दे रही हैं—और तब द्रष्टा [illegible] व अध्ययन में लम्बाई-चौड़ाई के [illegible] निष्ठापूर्ण गहन मनन तथा [illegible] रहस्य के ज्ञान से आलोकित हो उठता है। [illegible]

उपह्वरे गिरीणाम् । [illegible] च नदीनाम् धिया विप्रो [illegible]

१— [illegible]

अर्थात पर्वतों की कन्दराओं में और नदियों के संगम पर ध्यान-चिन्तन से ज्ञानी का जन्म हुआ। वही दृष्टा तब स्वयं सृष्टा बन जाता है। वह उस 'रस' का भोक्ता व वितरक बनता है जिस आनन्द को भोगते हुए रचनाकार ने अपनी कृति का एक एक अङ्ग सँवारा था। ब्रह्मा और उसका आलोचक तब एक रूप हो जाते हैं। कालिदास महामूर्ख नहीं, महाकवि के रूप में उन विद्वत् जनों द्वारा अभिनन्दित होता है।

यों मैं अपना ही विवेचन कर रहा हूँ। यह बात नहीं कि हिन्दी साहित्य की यशः गाथा में ऐसे कोई कृती उत्पन्न नहीं हुए हैं। जिन आचार्य के चरणों मे बैठने तथा अध्ययन करने का मुझे सुयोग मिला, वे ऐसे ही एक कल्पवृक्ष (धी-मान्) थे जिनकी देन साहित्यालोचना के क्षेत्र में 'महयाय्य' कर्मवत् है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने संस्कार व युगाच्छादन के बावजूद भी सतत साधना के फल स्वरूप एक ऋषि के समान क्रांतदर्शी बन गये थे। कवि जिस प्रकार जगत के विषम यथार्थ से युग-सत्य को प्राप्त करता है और फिर उसको युगवाणी में रूप प्रदान करता है [1] उसी प्रकार ऋषि-आलोचक भी रूप-वैभवमय रेखाओं से

---

१ (अ) समझ मैं गया हूं तुम्हे प्रिय ! समझ कर।
सुगम हो गये सत्य के भेद सारे।
—नन्द चतुर्वेदी।

(आ) मेरे छन्द तुम्हारे सपनों के रंगों से शोभित होते।
—नन्द चतुर्वेदी।

(इ) युग से पीड़ित जन-मानस है युग की गङ्गा का जल खारा,
बंधी हुई युग की चेतनता, युग का मानस-पीड़ित हारा।
आज बहुत इन्सान विवश है, निर्बल-सा असहाय, घिनौना !
मंजिल उसकी दूर जहां है, उसका सुन्दर रूप सलौना।
अभी निशा के बाद उषा की, उसे नई किरणों की आशा।
अभी थिरकते इंगित कहते, बढो, बनेगी तृप्त-पिपासा।
सुबह, नया सूरज निकलेगा,
नभ के तारो दलना होगा।
—प्रकाश आतुर।

(ई) रुद्ध युगों के इन कण्ठों मे,
नव-सरगम-स्वर गाये रे।
नई फसल के लिए गगन में ये बादल घिर आये रे।
—प्रकाश आतुर।

युक्त उस कवि-लोक में पैठ कर सत्य रूपी रत्न को निकालता है। और जैसे सागर की उन लहरों के लास की वह उन्मुक्त व्याख्या करता है वैसे ही उस लास के केन्द्र ज्योतिर्विन्दु की महत्ता की स्थापना कर जाता है। कवि की कृति में वह जीवन-सत्य-प्रच्छन्न भी रहता है और रहस्यमय भी—घन से छाये चन्द्र की तरह। उस चन्द्र के दर्शन तथा उसकी चन्द्रिका से छक कर उसको सब ओर सब के लिए छिटकना ही आलोचक का धर्म है कि वह सहज रूप से आस्वाद्य हो जाय। जैसे कवि विश्वामित्र है, वैसे ही उसका आलोचक भी। कवि जगत से अपनी ओर है, आलोचक अपने से जगत की ओर। कवि जो मंगलघट जगत से भर कर लाता है, उसके अमृत-बिन्दु को वह जन-जीवन पर बिखेर दे ऐसी उसकी चेष्टा होती है। आँग्ल-भाषा के एक आलोचक ने कवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में, भारतीय-समीक्षकों की तो यह मान्यता है ही, यह विचार प्रकट किया है कि जब कवि गाता है, विश्व इस आस्था से सुनता है कि अब एक ईश्वरीय रहस्य का उद्घाटन हो हो रहा है।

When the poet sings, the world listens with assurance that now a secret of God is to be spoken.

—*Emerson*.

ईश्वर पर आपत्ति हो सकती है, पर इतना तो मानना पड़ेगा कि कवि के स्वर में मानवता का कोई न कोई गूढ़ रहस्य मुखर होता ही है और जिस छन्द में गुंफित होकर प्रकट होता है वह चाहे पुराना हो चाहे नया पर, अपनी नवीन भंगिमा की शक्ति व गौरव से मंडित रहता है।[१] उसे समझना साधना की बात है। आलोचक को उसके लिए तपना पड़ता है। 'स्थितोऽस्मि गत-संदेह:' ऐसी स्थिति में वह अपनी परिनिष्ठित बुद्धि के द्वारा काव्य-कृति के उस रहस्य को पाता है और स्वयं कृति की भाँति उसे भाषा की नवीन भंगिमा में प्रकट भी करता है।

यहाँ इतना और समझ लूँ कि कवि के इस प्रयत्न में यथार्थ का क्या योग होता है। कालिदास की यह घटना बोल उठती है कि उस शाख्त के ठेठ रूप का ज्ञाता कौन है? क्या वे जो उसके बाहरी—और कभी २ बनावटी वैभव का

१— चला मैं लहू लाल सीने का लेकर,
नए गीत लिखने समय की शिला पर।
—श्याम नारायण

भोग करने में लिप्त हैं¹, जो यह नहीं जानते हैं कि वह शाखा स्वयं अपनी ही भीतरी जर्जरता में खण्डित होने वाली है और गिरने के क्रम में वह सम्पूर्ण वृत्त को एक भयंकर आघात देकर खोखला करने वाली है—रसहीन, ठूंठ-सा; या कि वे, जो भोगने की नियति में ही अपनी चेतना से उस शाखा के सच्चे स्वरूप को पहिचान जाते हैं और उसे अपने ही हाथों तोड़ कर उसके बल को तोल लेते हैं ? कवि के मानस में जब यों समष्टि का वर्तमान उतर आता है, तो उसकी वेदना असीम हो जाती है और वही नई प्रेरणा लेकर, नये स्वर में, 'पुरातन के निर्मोक' को झटका देकर भव्य भावी का रूप-गौरव गा उठता है।² उस युग-चेतन के स्वप्न में क्या-कैसा कितना यथार्थ और क्या-कैसा-कितना आदर्श ? ³ ऐसी स्वप्न-किरण जब फूटती है, तब वर्तमान युग की ही क्या युग-युग की लकीरों के बंध टूट जाते है। श्री विनोबा की मान्यता यह है कि ब्रह्माण्ड में जो है, उसे ईश्वर की शक्ति माना जाता है और ब्रह्माण्ड में जो है, वह सब तो साहित्यिकों की वाणी में आता ही है, परन्तु जो ब्रह्माण्ड में नहीं है वह भी साहित्यिकों की वाणी में आता है। वह तो स्रष्टा है, नई कृति अर्पित करेगा, जो है उसको ज्यों का त्यों भोग कर वह क्या करे ? देकर क्या करे ?

---

१— हमें नहीं विश्वास तनिक भी
यह मानव —
मनु का वंशज है।

—प्रकाश आतुर

२— स्वप्न है यह प्रात का
मीठे प्रहर का
खेत पर सोना बरसना चाहता है
और सब के स्वर नये, सरगम नया है
प्राण मे सब के भरा है अब उजाला
जिन्दगी के स्वप्न सबको मिल गये हैं
रात घटती जा रही है
प्रात होता जा रहा है।

—नन्द चतुर्वेदी

३— मेरी स्वरलहरी का अंचल फहरायेगा,
धरती, अंबर पर, सागर पर लहरायेगा।

—कमलाकर

आलोचक का कार्य उस कृति का समष्टिकरण करना है, उसके रस को पाना और सबको दान देना। ऐसे आलोचक मेरुदंड होते हैं और हिन्दी-साहित्य का सौभाग्य है कि उसमें ऐसी प्रतिभाएँ थीं और हैं। पर इसे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि साथ साथ श्रद्धा के आलोचक के समान स्व-निष्ठ आलोचक न हों। सम्भवतः वे काफी हैं इसीलिए ही हो कि मैं कुछ अपने से ही तर्क करने लगा हूँ, या फिर कवि-साथियों के संग चल पड़ने के कारण मुझे आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा हुई हो। कारण कुछ हो मुझे इस विचार-विमर्श से सन्तोष अवश्य है और चाहता हूँ कि वैसे इन कवि-मित्रों के बारे में कहने वाले हिन्दी-आलोचना क्षेत्र में काफी हैं, मैं तो उनके संग चलता रहूँ, उनके लोक में प्रविष्ट हो लूं, उनके भव्य रूप को निहार लूं और एक बार डूब जाऊँ उस आनन्द में जिसका अविरल धारा उनकी काव्य-गोमुखी से प्रवाहित होने लगी है।

× × ×

समाज तथा साहित्य के सम्बन्ध में चर्चा होती है 'तो यह कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। बात ठीक लगते हुए भी वह वस्तुतः ठीक ही हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। यों इधर कुछ ऐसी विचारधाराओं के विशेष-कर ऐतिहासिक भौतिकवाद आदि, स्थापन का उग्र प्रयत्न दिखाई देता है, जो इस बात पर एक रूप से सही की मुहर लगाने जैसा है। समाज तथा साहित्य दोनों, आखिर, शब्दार्थ पर ही जोर दिया जाय तो, मानव के संगठन रूप हैं। पर संगठन कैसा ? एक श्रेणीगत है, समतल गति का मूर्त रूप और दूसरा व्यक्तिगत है समतल गति के क्रम में एक ऊर्ध्व का स्वप्न वैभव-मंडित स्वर्ण मन्दिर रूप। समाज की मान्य सूक्ष्म-स्थूल रेखायें अवश्य साहित्य-मन्दिर के रूप-गठन में योगदान देती हैं, पर वे जो एक कलाकार के स्पर्श से नव्य-विन्यास हो पारस स्वर्णिम आभा से मुखर हो उठती हैं, वे दर्पण में प्रतिभासित समाज की केवल-मात्र प्रतिबिम्ब-रेखायें कहाँ ? समाज मेरे चारों ओर बिखरा पड़ा है उसमें मैं चलता फिरता, उठता-बैठता जागता-सोता सांस ले रहा हूँ—मैं उससे, इसी से, परिचित हूँ; और आज का साहित्य भी मेरे पास है, यथार्थवादी भी, आदर्शवादी भी और घुलामिला आदर्शोन्मुख यथार्थवादी भी पर जो सब व सहज साहित्य है वह, आज का हो या प्राचीन तथा देशी हो या विदेशी, मुझे समाज की अनुकृति ही प्रतीत नहीं होता। यह क्रांत-दर्शी कवि की लीला है यह ऐसा हो भी कैसे सकता है ?

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य का मर्म' शीर्षक लेखमाला में एक

स्थान पर कहा है कि मनुष्य उसी विधाता का श्रेष्ठ प्रतिरूप है जब उसमें अपना स्वाभाविक धर्म चरम उत्कर्ष पर पहुँचता है, तो उसमें वही लीला-विलास उत्तरंग हो उठता है। उसके उच्छलित आनन्द के अतिरेक से उद्भूत सृष्टि ही सच्चा साहित्य है। श्रीकृष्ण गोकुल गांव में नन्द-यशोदा तथा गोप-गोपिकाओं के साथ जीवन के सुख-दुखात्मक क्षणों को व्यतीत करते हैं, यह है समाज का ठेठ रूप; पर सूर इस समाज के सीमित तन्तुओं को प्रसारित व ऊर्ध्वगामी कर उस भूमि की ओर लेजा कर बांधते हैं जो जमुना की लोल लहरों से निनादित है, मल्लिका-लता-पुञ्ज से सुवासित है और 'सरद सुहाई जामिनी' की चन्द्रिका के अभिमंत्रित हास से मुखरित है और जहाँ प्रेममग्न गोपियां अपने नटनागर के साथ रासलीला करने में 'घन दामिनी दामिनी घन अन्तर' सी तन्मय हो रही हैं, यह साहित्य का अमल रूप है। समाज सहेतुक क्रीड़ा है और साहित्य अहेतुक लीला। कालिदास के शाखा-काण्ड में समझने की बात यह है कि वह इस लीला के रहस्य को गुन चुका था। इसीलिए समाज जिन रेखाओं को पूत कह कर अपनाता है तथा जिनको अपूत कहकर छोड़ता है और साथ ही जिस सर्वग्रासी अंकुश के आतङ्क में बल-पूर्वक यह अपनाने व छोड़ने की क्रिया होती है, उनसे अमृत-पुत्र कवि अपने आपको सहज ही मुक्त कर लेता है और फिर अपनी वाणी में वह उसी मुक्ति का मंत्र फूंक उठता है। समाज का अपना स्वरूप होता है, अपनी क्रीड़ायें होती हैं, अपना राग होता है और इन सबके लिए उसकी अपनी गति होती है; इससे भिन्न ही कवि-सृष्टि के रूप, ध्वनि तथा छंद होते हैं और इन सबके लिए उसकी अपनी गति होती है। एक आधुनिक कवि ने समाज को 'भैंसा गाड़ी' कह कर उसके निंद्य, घृणित व हन्ता रूप पर कठोर व्यंग्य किया है। तो फिर उसका प्रतिबिंब रूप साहित्य 'भैंसा-गाड़ी' ही होना चाहिए। धारणा ऐसी इस कविता पर भी, जिसके हृदय-स्पर्शी व्यंग्यात्मक चित्रों में चेतना स्फुलिंग प्रस्फुटित हो रहे हैं नहीं बन पाती।

समाज एक सहेतुक रचना होने के कारण अनायास ही किसी संशक्त व्यक्ति या वर्ग की संघातक पकड़ में बंध जाता है, और समाज का वह हेतु उसकी महत्वाकांक्षा पर नाचने लगता है। इतिहास के अनगिनत पन्ने उसी घातक आपाधापी क्रिया की संक्षिप्त, विरूप तथा अर्द्ध-सत्य कड़ियों का समूह है और उसके भार के नीचे जनमानस दबा पड़ा हुआ है। सोक्रेटीज लें, वाल्मीकि लें, गौतमबुद्ध लें क्राइस्ट लें, मंसूर लें, कबीर लें, मीरां लें, तुलसी लें—कोई धर्म प्रवर्तक हो, समाज सुधारक हो, कवि हो, दार्शनिक हो,—वह हो जिसने समाज की लीक छोड़ कर चलने का साहस किया, उसे सदा जहर का प्याला पीना पड़ा।

पर उसके चरण क्रान्ति के सूत्रधार हुए हैं और यों समाज ने समय समय पर नई चेतना से उद्भूत क्रान्ति का ध्वंस व निर्माण का कायाकल्प पाया है। ऐसी घटने वाली क्रान्तियों के गहन अन्धकार में कहीं दूर-दूर अज्ञात-सा यह 'हेतु-भूत' क्रूर अट्टहास करता रहा है। यह वर्ग-भेद और वर्ग-संघर्ष आज की वस्तु नहीं है, गो, जैसा युग है वैसा ही उसके रूप में नयापन जरूर है। पर सवाल यह है कि समुद्र-मंथन कब रुका है? जब जब नई आवाज नई शक्ति को लेकर उठी यह सुर-असुर का समुद्र-मंथन आरम्भ हुआ है और भयंकर संघर्ष के बाद जो विष-भांड निकलता है उसे वह युगस्रष्ठा स्वयं जन-मंगल हेतु शिव की भांति पी जाता है तथा छोड़ जाता है वे विविध रत्न जिनको हस्तगत करने के लिए सुर-असुर घात लगाये बैठे रहते हैं। यहीं फिर 'हेतु' प्रकट हो जाता है और उन रत्नों के भोग में ऐसी स्वार्थी शक्तियाँ संगठित होती हैं कि वे भव्य उपलब्धियों यों विरूप होकर अतिरिक्त बन्धन सूत्र सी जन-मानस पर छा जाती हैं।

आखिर समाज अपने रूप में है क्या? ऐसी क्षमता हो, सूक्ष्म दृष्टि हो तो देखने से पाया जायगा कि वह मकड़ी के द्वारा बना स्वरक्षा हेतु एक जाला है, सीधे तन्तुओं का योग है जिसके आच्छादन में मकड़ी ने अपना संसार बसा रखा है। 'मैं' जब 'केवल एक' है, उस महाशून्य के आवर्त मे 'होना' तथा 'रहना' इन अनुभूतियों का कोई अर्थ भी नहीं है। ऐसा अर्थ तब उभरता है जब यह 'मैं' अपने अतिरिक्त 'वह' ( और फिर विशिष्ट 'वह अंश' के रूप मे 'तू' ) की सत्ता का भी बोध करता है। उस स्थिति मे ही वह अपने स्व' के साथ पर' का सम्बन्ध धूप-छाँह सा कुछ स्पष्ट कुछ अस्पष्ट जुड़ा पाता है। इस 'स्व' के प्रसरण के साथ ही संकोचन की क्रिया भी होती है। प्रसरण जहाँ 'पर' के निकट जाने का आग्रह देता है वहाँ संकोचन उस 'पर' को खींच कर स्वहस्त करने की उत्तेजना देता है।[१] चाहे आदम हव्वा को ले या चाहे मनु श्रद्धा को—समाज के स्थापन के पीछे वही एक रहस्य है। एक समय आदम के सामने 'पर' का विराट व विस्तृत रूप खुल पड़ा था, उसमें से ही एक ऐसा विशिष्ट अंश आदम के सन्मुख

१— जो अनुभूत हुआ अन्तर में कल्पित भी है सपना भी है।
जो गीतों में बस जाता है, सारा भी है अपना भी है।
रहता उन में निहित निवेदन, किसके प्रति पर उर पर निर्भर।
एक मुक्ति का इंगित उन में, एक नरक का कटु कर्कश स्वर।
निज अनुकूल समन्वित करना, जीवन भी है मरना भी है।
—इंदिरा

को झंकृत कर गया कि वह 'तू' थी हव्वा। यों आदम हव्वा मिले, वे बँध गये। बँधे तो, पर इस आत्म प्रसरण की उदात्त भावना के नीचे जैसे एक लुकी-छिपी स्वअर्थ की कुंठा थी—कि जो उन्होंने अपने युग के समाज की एक दो रेखायें खींची, वे देश काल के इस दीर्घ व्यवधान में अनेकानेक आडी-तिरछी, सीधी-रेखाओं का एक भूल-भूलैया-सा बन गया है। इस महाशून्य में आकाश-गंगा के दो तट के भीतर जो रजतरेखाओं का बहु-रूपात्मक क्रम चल रहा है। ऐसा ही है कुछ हमारा समाज जिसके भीतर तारा-गण अपनी व्यक्तिगत सत्ता खो चुके हैं और ऐसे दयनीय व पीड़ित हो चुके हैं कि किसी स्वतन्त्र-सत्ता की स्थिति पर अविश्वास करने लगे हैं। 'भैंसा-गाड़ी' चल रही है अविरल रूप से लड़लड़ाती हुई, तो फिर गन्दगी के सिवा, 'सुगन्ध' का भी कोई सत्य है यह कैसे विश्वास किया जा सकता है आखिर उसका देश-काल तो उस गन्दगी में बँधा पड़ा है। युग युग से खिची लकीरों में समाज आबद्ध है। ये लकीरें हैं सीधी, साफ सुथरी जिन पर समाजपति जनसमूह को चलाते रहते हैं उन पर चलते रहने में इहलोक तथा परलोक दोनों का लाभ है ऐसी अवस्था पैदा की जाती है और इसके लिए बुद्धि तथा शक्ति का निरंकुश प्रयोग किया जाता है। उनकी सर्व-मान्यता बहुत कुछ सिद्ध रहती है।[२] ऐसी स्थिति में उस आकाश-गंगा के किनारे

---

२— यह लकीर किसने खींची है ?
बांट रही है जो धरती को,
धरती के मालिक मनुष्य को,
चीर रही है जो मनुष्य के
अन्तरतम को ?

× × ×

हे विराट् !
ये क्षुद्र लकीरें और न खींचो—
शतदल की सौ पँखुरिया
सौ फूल नहीं हैं—
एक फूल है।

—ज्ञान भारिल्ल

का पार्श्व विस्तार एक अन्य लोक की निधि लिए हुए है, कौन जान सकता है ? आकाश गंगा में है या नहीं, पर यह सौभाग्य की बात है कि इस मानव समाज में शिव-वेदी पर खड़ी रहने वाली ऐसी प्रतिमा युग के बाद युग में प्रकट होती रहती है जो अपने समाज की संघर्षमय स्थिति के परे, उसकी मान्य रेखाओं के परे उस लोक की ओर निहार सकती है, जहाँ असीम विस्तार में चाँद सितारों का लोक है जो आपस में आकर्षण सूत्र में बँधे हैं पर फिर भी अपनी व्यक्ति साधना में स्वयं पूर्ण प्रकाशित हैं।'

रीतिकालीन कवि बिहारी की इस उक्ति में कितना सत्य निहित है—वह अपने दीनदयाल से निवेदन करता है कि चाहे जगत निन्दा ही क्यों न करे, वह अपनी कुटिलता नहीं छोड़ेगा, उसकी लगन तो 'त्रिभंगीलाल' से लगी है। वह है हृदय का अतिथि फिर चित्त का सीधापन किस हेतु ? वह तो उस अतिथि के लिए कष्टकर ही होगा। 'लीक लीक गाड़ी चले, लीकहिं चले कपूत।' समाज तो लीक पर चलता है—सीधी लीक पर, क्योंकि उसे वेद-लोक मर्यादा का ज्ञान है और इसी-लिए उसका रोम रोम भयसंकुल है। जो निर्भय होकर बे-लीक, कुटिल-गति चलते हैं, वे होते हैं सायर, सिंह तथा सपूत। श्री विनोबा ने कहा है कि जिसे क्रान्त-दर्शन है, जिसे उस पार का दर्शन है, दुनियाँ को जहाँ का दर्शन नहीं है क्योंकि दुनियाँ की आँखों पर पर्दा है—ऐसा दर्शन जिनको है, वे कवि कहलाते हैं। कुटिल होकर ही कोई अपने द्वार पर त्रिभंगीलाल का स्वागत कर सकता है। घूँघट के पट खोल तथा लोक लाज सब डाल देने पर ही मीरा अपने सामने प्रिय को होली के रंग में रंगा खड़ा पाती है। कवि उस साधना-भूमि पर खड़ा होता है, तो उसके नेत्रों में केवल यह आकाश गंगा की सँकरी पट्टी ही नहीं होती, अनन्त आकाश उसका दृश्य होता है। उस विराट सौन्दर्य के द्रष्टा के आह्लाद की कोई सीमा है ! पर क्योंकि उसके चरण का आधार धरती है इसलिए वह अपने उस क्षितिज को उदार बनने के लिए आह्वान भी करता है :

"मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।"

—प्रसाद

---

१— देखता है घूमता चल चित्र सा संसार, किन्तु मेरी पुतलियों का शून्य विस्तार।
चित्र धूमिल ले खड़े नीहार का आधार, दृष्टि मेरी खोजती है ज्योति पारावार।
देख लेना चाहता साकार अपना ध्येय, [illegible]

—[illegible]

आधुनिक काव्य में ये झंकारें हैं तो हमारी लकीरों पर चलने वाली बुद्धि कहती है कि यह भ्रम है, पलायनवादी मनोवृत्ति है जो यथार्थ से मुख मुड़ाकर हमें किसी छायालोक की वायवी माया में भरमाती है। मैंने इस संबंध में पहिले भी संकेत किया है। भ्रम क्या है? [1] यह यथार्थ जिसकी कि रेखाओं में ये मानवजन जकड़े हुए मृगमरीचिका की प्राप्ति हेतु वेगवती प्रतिस्पर्धा लिए बेहताश दौड़े चले जा रहे हैं, जिसकी कि भौतिक उपलब्धियों की विपुलता में मानवीय उदात्त संपदाओं को भुलाकर स्वयं अपने आप को भूले जा रहे है या कि वह विराट विस्तृत पूर्ण दृश्य के वैभव में मंडित नव सृजन का मंगल स्वप्न ![2] यह जो है उसे बदलना है तो फिर यह जो 'यह' के प्रति लिप्सा है उसे त्यागना होगा और किसी और ही स्वर्णिम स्वप्न के प्रति निष्ठा पैदा कर उसे मूर्त करना होगा। कबीर की उलटवासियाँ भ्रम नहीं है और न उनको साखी व पद; वे किसी गूढ सत्य की झंकारें हैं। जिसे हमने ठीक—यथार्थ—समझ रखा है,

---

१— चरण बोलता-धूल मौन है।
युग युग से दोनों साथी, दोनों पर ही नभ की छाती,
चरण रुकेगा, धूल चलेगी सत्य कौन है भूल कौन है?

—सेठिया

२—(अ) युग से पीड़ित जन मानस है युग की गंगा का जल खारा,
बंधी हुई युग की चेतनना युग का मानस पीड़ित हारा।
आज बहुत इन्सान विवश है, निर्बल सा, असहाय, घिनौना।
मंजिल उसकी दूर जहां है उसका सुन्दर रूप सलौना।
अभी निशा के बाद उषा की, उसे नई किरणों की आशा।
अभी थिरकते इंगित कहते बढो, बनेगी तृप्त पिपासा।
सुबह, नया सूरज निकलेगा,
नभ के तारों ढलना होगा।

—प्रकाश 'आतुर'

(ब) आज सच जीना धरा पर हो चला था भार,
लग रही थी जिन्दगी ही एक कारागार,
पर तुम्हारे प्यार का अब भी वही आदेश,
मंजिलों के पार जाने का वही आवेश,
मैं कहां भूला कि लाना है मुझे नवप्रात!

—नन्द चतुर्वेदी

वह वास्तव में यथार्थ है भी या नहीं, या कि केवल यथार्थ का भासमात्र. ज्ञेय व अज्ञेय !

हो सकता है कि ये लकीरें एक युग के परीक्षण का सत्यात्मक विभव लिए हों, हो सकता है कि ये एक युग की क्राँति का वाहन भी रही हों,—तो ये फूटी हैं अवश्य धरती के अन्तराल को विदीर्ण कर अपने वेग की कलकल ध्वनि लिए एक जल स्रोत समान जिस पर फिर अन्तरिक्ष का वैभव निछावर हुआ होगा, पर एक व्यक्ति या वर्ग-विशेष की अहम्-मूलक शक्ति ने उसे बाँध दिया होगा, घाटों की एक एक सीधी सीढ़ी ही उनका वैचित्र्य बन गयी होगी। लकीरें फिर टकराती हैं जीवन से, संहार करती हैं जीवन का, और जनमानस क्षुब्ध एवं पीड़ित होकर आर्तनाद करता रहता है। वह पुरातन महाभारत तो रक्त-रंजित दृश्य की एक झलक है जिस पर युग युग के युग पुरुष का चरण धूमकेतु की तरह रखा निदित व घनीभूत पीड़ा से काँपता रहा है वही अन्तर्वेदना उस दूरागत लोक के संगीत को लेकर आनन्द-झंकारों में ध्वनित होती रही है![1]

मैं अपने आलोच्य लोक को देखता हूं तो उसे समाज का प्रतिबिम्ब मात्र ही नहीं पाता, वस्तुतः पाता हूं कि उसमें कुछ ऐसी चिनगारियाँ फूट रही हैं जो निसर्गतः गाढांधकार की कोख में से स्वर्ण-कण-सी क्षितिज के एक मंगल-पटल पर बिखर कर एक सौन्दर्य-सृष्टि का निर्माण कर जाती हैं। इन गीतों में जीवन का स्वर है; आखिर इन गीतकारों ने धरती की निगूढ़ वेदना को स्वयं बढ़कर पान करना चाहा है, उनके चरण उसकी रक्त-पंकिल धूलि की निष्प्राण-शीतलता से कँप-कँप कर आगे चल पड़े हैं और साथ ही इस धरती से परे दूर—बहुत दूर

---

१— किस प्राण के छूने से तीर—
ये जिन्दगी की ज्वार लौट चली,
किस तट से पड़ निर्झर—
ये धरा मरुर चली,
किस राग का लहरा कम्पन
कि भरा प्यार
बेशुमार
कौन कहे !
किस बीन के छिड़े ये तार !

—नरेन्द्र

जो जीवन-संचारिणी ध्वनि उठ रही है तथा आलोक प्रसारित हो रहा है, उनका अन्तर-व्यक्ति वही भावन करने लगा है। फिर स्वतन्त्रता-देवी का आगमन—इस युग का सौभाग्य-वर-सा—इन सजग गीतकारों को आह्लादित कर गया है। इन कवियों में से अधिकांश ने राष्ट्र-स्वातन्त्र्य-समर के अनुपम कर्म में निष्ठापूर्ण सक्रिय योग भी दिया था और राष्ट्र की उस पूत-भावना को वाणी देकर जन-जन को जागृत भी किया था। इस राष्ट्रीय सफलता की वेला के बाद एक नई चेतना का संचार हुआ है जैसे वे स्वप्न अब सदियों से पददलित व पीडित तथा इसके फलस्वरूप रक्त पंकिल धरती पर अंकुरित होने वाले हों, अतः उनकी वाणी भी नई जिन्दगी के नये तराने गाने लगी है और स्थानीय रंग उनमें धीरे धीरे उभर रहा है, इस कारण उनकी स्वर सज्जा में मोहक ताज़गी व आभा गुंफित होती जा रही है।

× × × ×

राजस्थान एक वीर भूमि है, राजस्थानी को गर्व होना चाहिए, यह स्वाभाविक है। किसी असत् दर्प के कारण नहीं, वैसे इधर ऐसी वृत्ति का उन्माद भी कम प्रदर्शित नहीं किया जाता रहा है, यह विनम्र व सहज उद्बोधक भाव से ही कि आखिर हमारे महादेश के एक संकट काल में यह भू-भाग उसका तोरण द्वार-वत् बन गया था जहाँ भारतीय शौर्य व बलिदान का अपूर्व वैभव नर के केसरिया बाने में तथा नारी की चिता-शिराओं में सर्वत्र प्रसारित हुआ था। उस समय राजस्थान वीरत्व की लीला में संलग्न था, उस रंग में डूब कर जिन श्रेष्ठ कर्मों का सहज सम्पादन हुआ वह इतिहास में अनुपमेय है। भारत के ही नहीं, विदेशी विद्वानों ने भी इस भूमि के स्थल-स्थल को थर्मापली जैसे ग्रीक-राष्ट्रीय-स्मारक के समान पवित्र माना है। देश के अन्य प्रान्तों के लिए चित्तौड़ जैसा दुर्ग तो एक स्वप्न-सा प्रिय व प्रेरक बन गया है। इस दुर्ग की भूमि पर जो अपूर्व लीलाएं हुईं वे ऐसे आबाल-वृद्ध नर-नारियों से हुई हैं जिनको लक्ष्य कर ही शायद प्रसादजी ने अपने स्कन्दगुप्त नाटक में जयमाला से कहलाया है—"जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए अपनी आंखों से देखना, जीवन रहस्य का चरम सौन्दर्य, नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में मंगल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है उसे देखना भाग्य का खेल है।" राजस्थान की भूमि ने ऐसा भाग्य पाया था, और अपने शौर्य व बलिदान की निष्ठा

में उन्होंने उस संगीत को सुना था, जीवन-रहस्य के परम सौन्दर्य को देखा था। इससे भारत ने जो पाया, वह उसकी गौरव-गाथा की एक जाज्वल्यमान मणि है।

मैंने दर्प के उन्माद की बात कही है। उस चेतना-काल में जो शक्तियां प्रबुद्ध नहीं हुई थीं, जिनके मानस क्षुद्रता से आक्रान्त थे वे ही उस काल में अन्तर्विरोध का कारण बनी फिर मुगलों के वैभवमय दरबारों में राजभक्ति प्रदर्शित करती हुई वे अपनी रजपूती टेक को निभाती रहीं और इसके भी उपरान्त यह राजभक्ति ऐसी गलित व सारहीन हो गई कि साम्राज्यवादी अंग्रेजों के आगे भी उसी प्रकार प्रकट की जाने लगी जैसे मुगल बादशाहों के सामने। राजस्थानी के एक स्वाभिमानी चारण कवि की निर्भय वाणी ऐसे ही प्रसंग पर गर्जना कर उठी थी:—

हुकमत गी पर हात, घर में खूणे घालिया।
बालक भी या बात, जान चुक्या जग मांहिनें॥

वीरता आत्मा के उन्मेष की एक उदात्त कर्म-प्रेरक भावना है, इसके उठान में प्रकृति मुस्करा उठती है, पर जब वह अपने वेग में सीमाबद्ध होकर भँवरियाँ लेने लगती है तो अलक्ष्य आत्महंता आसुरी-शक्तियाँ किलकारियाँ मारने लगती हैं। पराधीनता रूपी बधिक ज्यों ज्यों देश की काया पर आधिपत्य जमाता गया ये किलकारियाँ क्षुद्र राजमहलों की रंगशालाओं में पहिले मन्द-मन्द उठी तथा फिर तीव्र से तीव्र तर होती गईं और प्रतिध्वनित हुई दीन-हीन झोंपड़ियों में। यह दिशा-भ्रान्त वीरत्व कालान्तर में बाज की अमानुषिकता लेकर जन-जीवन के शोषण का कारण बना। बिहारी की अन्योक्ति वहाँ सार-गर्भित है, वे बाज को सम्बोधित करते हुए अपने एक दोहे में कहते हैं कि—तू परवश होकर निर्बल पक्षियों का घात करता है इससे न तो तेरा स्वार्थ सिद्ध होता है न परमार्थ, वस्तुतः तेरा श्रम वृथा ही है। ऐसा भ्रम भी हुआ है। अतः, वीर प्रसू राजस्थान का यह चितकबरा इतिहास ऐसी विडम्बना लिए है कि यह भूमि जहाँ आज भी राष्ट्र के कोमल मधुर तथा ऊर्ध्व स्वप्नों का प्रेरक है, वहाँ इसका आज का यथार्थ निर्मम उपहास तथा उपेक्षा का पात्र बना हुआ है, अपनों से भी और देशवासियों से भी। इससे भारत ने जो नहीं पाया, वह एक कम बड़ी नहीं है।

राजस्थान का इतिहास बहुत बंधी लकीरों के आधार पर लिखा गया है और उसे यों ही पढ़ा गया है। राजस्थान के कुछ वीरों के गुणगान होते हैं, तथा कुछ कोसे जाते हैं और साथ ही, ऐसे ऐतिहासिक भी हैं जिनके निष्कर्ष कुछ मौलिक सूझ-बूझ व्यक्त करने वाले हैं जैसे कि राणा प्रताप बावजूद अपनी वीरता, साहस व बलिदान के सफल राजनीतिज्ञ नहीं था, और महाराज मानसिंह एक वीर और दूरदर्शी पुरुष था जिसने युग परिस्थिति के अनुकूल अपनी नीति निर्धारित कर भारत की दो शक्तियों को एक सूत्र में बांधने का साहसिक प्रयास किया। ये इतिहास में लिखी लाइनें हैं। पर हमें एक सत्ता की बात नहीं करनी है, न दूसरी की, हमें तो देखना है कि भारत देश के उस महा संकट काल में, जब एक विदेशी जाति की अनगिनत मेघवाहिनी का एक के बाद दूसरा भीषण आक्रमण होने जा रहा था और शंका थी कि इस दुर्दमनीय प्रवाह में सब कुछ स्वाहा होने वाला है, देश के किस भू-भाग के उदर से वह ज्योति फूटी जिसकी दिशा-व्यापी आत्मा में युद्ध ही जीवन का प्रिय अभिसार बन गया। यह युद्ध-वृत्ति महत्वाकांक्षा की ज्वाला से उद्दीप्त अपहरणकारी नहीं थी। वह वस्तुतः अपने देश के गौरव को अक्षुण्य रखने और अपने जीवन तथा जीवन की परम्परागत प्राप्त उपलब्धियों की रक्षा हेतु जगी थी। राजस्थान की भूमि में जिस चेतना का संचार हुआ था उसके ज्योति-दण्ड को धारण करने का सौभाग्य जैसे अनेक राजपुत्रों को प्राप्त हुआ वैसे ही अनेकानेक प्रजाजन को भी। वे जो गाड़ोल्या चित्तौड़गढ़ में आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रवेश कर रहे हैं, वे इन विगत वर्षों में जिस शुचि प्रण-शीलता, उन्मुक्त-त्याग तथा दृढ़ कर्म-साधना के पतले तन्तुओं को धारण किये हुए भ्रमणशील जीवन की कठोरता सह रहे थे— यह तो एक दृश्य है उस चिनगारी का। न इतिहास न महाकाव्य उस चेतना की सार्वत्रिक हलचल को व्यक्त कर सकते हैं, उसे जानना है तो राजस्थान के बिखरे लोक-साहित्य में अवगाहन करना होगा। हाडीरानी एक नहीं थी जिसने छलकते पर उज्ज्वल नेत्रों से, कोमल स्वप्नों को मौनपाश में बांधे पर मन्द मुस्कान भरे अधरों से तथा मृदु कंप लिए पर दृढ़ हाथों से अपने प्राणेश्वर का अर्चन कर विदा-माल पहनायी थी और जिसने प्रयाण वेला की गगनभेदी ध्वनि तथा नग्न तलवारों की चमक में अपने पति की प्यार भरी दृष्टि तथा सैनाणी-सन्देश के भीतर वास करने वाली कोमल दुर्बलता को जानकर अपना सिर भेंट स्वरूप प्रदान कर दिया था। उस समय तो घर घर में दीप जल रहे थे, देश के आह्वान पर तैयारियां की जा रही थीं। वीर केसरिया वस्त्र धारण करके मूक शुभाकांक्षा में विदायें दी जातीं, रणवासों की मत्रमुग्धता में अभियान होता और फिर—

जब किसी सुदूर थल में वे वीर प्राणों की होली खेलते हुए युद्ध में अपने खड्ग का जौहर दिखाते थे, तब हर घर के द्वार पर कोई उत्कंठिता अपनी अखण्ड साधना में लीन दिखाई देती थी। उसके यहाँ पीहर से 'वीरा' आता है उसे लेने, वह क्या अपने मातृ-मन्दिर नहीं जायगी—उस बाल-लीला की भूमि को जहाँ माता-पिता का वात्सल्य, सखा-सखियों का अपनत्व, पशु-पक्षी तथा प्रकृति खंड का अनुराग बिखरा पड़ा है? पर आज तो वह उस मातृ-मन्दिर के विपुल दान के धन को ही परिपूर्ण व सार्थक करने उपलीन है, वह और क्या उत्तर दे:—

> वीरा लेवण आवियो, पिउ रण हुआ वहीर।
> अब तो वलवा जावस्यां, अब नहँ आवां पीर॥

जिस नारी का पति देश-वेदी पर उत्सर्ग होने के लिए केसरिया वेश धारण कर चुका है, वह क्या उसके इस उदात्त प्रेम की समता चिता-शिखाओं के बीच अपने प्रिय से मिलकर एक होकर नहीं कर सकती? उसे अपने पति के वीरत्व पर आशंका नहीं है, जानती है कि वह कायर की तरह अपनी प्राण रक्षा कर घर नहीं लौटेंगे, लौटेंगे तो विजय लेकर या फिर प्राणाहुति देकर। अतः वह जिस प्रकार जीवन के स्वागत के लिए आतुर है, उसी प्रकार मरण के लिए भी। यह है जीवन में समरसता की भूमि जिस पर राजस्थान के नर भी और नारी भी समान रूप से खड़े हुए थे।

राजस्थान के मातृत्व का विराट रूप देखना हो, तो ये पंक्तियां देखिये:—

> वाला चाल म वीसरै, मोथण जहर समाण।
> रीत मरंतां ढील की, ऊठ थयो घमसाण॥

"हे बेटा! अपनी परम्परा को मत भूल। मेरा दूध जहर के समान है। देख, घमासान युद्ध हो रहा है और तू अकर्मण्य बना बैठा है। उठ, यहाँ उत्सर्ग होने की रीति टूट न जाय।' राजस्थान का पितृत्व इस उद्गार में अपनी परिपूर्णता लिए मुखर हो उठा है—

> तात विदेसां आवियो, कौलै दीठा हाथ।
> पण वधाई हलसै, सूतन्नू बलिया साथ॥

"पिता विदेश से लौटा है और जब घर के समीप आता है, सहज वात्सल्य व स्नेह से उसकी ओर दृष्टिपात करता है, तो घर के द्वार पर अंकित कुंकुम का हस्त-चिह्न देखकर उसका हृदय आनन्द से भूम उठता है। आखिर पुत्र ने युद्ध में

मृत्यु और उसकी वहू ने सती होने का गौरव इस काल के अन्तर्गत अर्जित किया है। उसका जीवन धन्य है!" और ऐसे उदार तथा विशाल हाथों में पले शिशुओं का जीवन मंत्र युवावस्था में "चरैवेति, चरैवेति" हो तो क्या आश्चर्य ? जब हृदय यों उन्नत होता है, वह अपनेपन की क्षुद्रता व कुंठा को अनायास ही छोड़ देता है, वह प्रसारित हो जाता है जन जीवन में। ऐसी भूमि पर प्रेम की बाती जलती है, वह अनन्यता से एक की ओर समर्पित होकर भी उस एक की कायिक-सीमा में बंधती नहीं क्योंकि उस एक में ही तो वह सर्व को प्रतिविम्बित होता हुआ पाती है। यों जीवन का व्रत त्याग और सेवा बनता है और कर्म पथ पर गतिमान हो कर वह प्रेम एक अपूर्व सौन्दर्य का ऐसा आलोक बिखेर देता है जो युग युग को मोहित करता है, प्रेरणा देता है। 'तपस्या जीवन की सबसे बड़ी कला है —गांधी। ऐसा लगता है कि राजस्थानी नर-नारियों ने इस कला को जानकर ही इस काल के अन्तर्गत जीवन का उपयोग किया था। एक ऐसी ही मार्मिक झाँकी निम्न दोहत्थ में देखिये।

एक वीर माता तथा वीर वधू की सेवा-परायणता तथा हृदय-मंथन का अनुपम दृश्य है यह। उस वीर माता का पुत्र भी रणभूमि पर घायल पड़ा है दूसरे योद्धाओं के साथ, घाव की वेदना लिए। शीतल जल का आग्रह है उसके अधरों पर, पर माता जानती है कि आखिर हर कोई यही तो चाहता है। अतः जो अधिक घायल है, जो जल की इन बूंदों के बिना जिन्दगी की घड़ियाँ आगे न गिन सके, उनकी सेवा सुश्रुषा पहिले होनी आवश्यक है। माता दृढ़ चरण से आगे बढ़ जाती है कर्त्तव्य की कठोर निष्ठा के लिए, पर क्या उसके मानस में किसी प्रकार का विलोड़न नहीं हुआ ? बड़ा उत्ताल बड़ा गहन हुआ होगा, पर वात्सल्य तो आज सेवोन्मुखी है, उसके ऊपर नव चेतना का प्रकाश गिर रहा है फिर कौन अपना और कौन पराया ? उसकी दृष्टि में वही प्रथम सेवा का पात्र है जिस युद्ध स्थल में अधिक घाव सहे हैं और इस क्रम में उसके जीवन-तारावत पुत्र का नम्बर आ जाता है, तो वह उसी मातृभाव से उसकी भी सेवा करेगी ही, जैसे दूसरों की कर रही है। पर अभी अभी उसे आगे बढ़ना है. उसके अन्य घायल वीर पुत्र उसे पुकार रहे हैं और उस क्षण सेवा-सहयोगिनी उस वधू की क्या दशा है ? वह भी अपने सौभाग्य का करुण तथा कसकभरा दृष्टि संकेत पाती है, बहुत कुछ कहने, बहुत कुछ करने की साध लिए थी, वह इतना कह पाती है:—

किण विध पाऊँ आणियौ, बोलता जल लाव।
बांटै सास बलोवली, भालौ हंदा घाव॥

यह भाव-शबलता के साथ आत्म-नियंत्रण का उज्ज्वल दृष्टान्त है। राजस्थान लोक साहित्य का अक्षय भण्डार है क्योंकि उस युग की चेतना ऐसी ही अक्षय थी—अखण्ड व परिपूर्ण।

राजस्थान के उपलब्ध साहित्य विशेषकर काव्यों में ऐसी उच्च भावना से प्रेरित कार्यों का वर्णन न हो, मैं यह बात नहीं कहता, पर मेरी यह निश्चित धारणा बन गई है कि अगर हम उस काल के जन-जीवन के सच्चे स्वरूप को जानना चाहें तो वह लोक साहित्य के माध्यम के द्वारा ही हो सकता है। फिर इन काव्यों में, परम्परा के अनुसार, एक विशिष्ट वर्ग का ही वर्णन हुआ है, जो, ऐसा माना जाता है और काफी अंशों में ठीक भी, उस जागृति के प्रतिनिधि रूप हैं। पर जन-जीवन को वे अपनी सम्पूर्ण वास्तविकता में व्यक्त कर पाते हों, ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता। कुछ ऐसे आवरण हैं कि उनके जरिये यथार्थ को समझने में भूल हो सकती है और हो रही है। वैसे इस जागरण की छवियां काव्यों व इतिहास में भी स्थल-स्थल पर उभर आई हैं। महाराणा प्रताप प्रताप ही थे, पर हल्दीघाटी की पुण्यभूमि में मेवाड़ के छत्र की छाया में प्राण-समर्पण करने वाला वीर झाला सरदार ही था, और जब उदयसिंह चित्तौड़ छोड़कर अरावली की कन्दराओं में सिसोदिया राजवंश की रक्षा करने में लगा हुआ था, उस समय उस ज्योति-दण्ड को जयमल-पत्ता ने अपने हाथों में धारण किया था और प्राणान्त तक उसे बुझने नहीं दिया था:—

पण लीधाँ जैमल-पत्ते, मरसां बांधे मोड़ ।
सिर साजे सूंपां नहीं, चकता नूं चित्तोड़ ॥

ऐसे कितने ही देवरे जो राजस्थान के गांव-गांव में निर्मित स्मारक-रूप दिखाई देते हैं, उस आग की चिनगारियाँ मात्र हैं।

ऐसी चेतना जब जगती है, तो मानवीय भावनायें अपने पैगम्बर व ऊर्ध्व संचरण में स्वर्णिम होकर सार्थक हो जाती हैं। मानव एक उदात्त-भूमि पर विचरण करने लगता है, वह अपनी व्यष्टि-बद्ध कुंठा से मुक्त होकर लोकहित के लिए सहज ही उत्सर्ग हो जाता है। वहाँ अगर किसी कोने से अत्याचार, अन्याय, दमन आदि पाशविक बल की चुनौती आती है, तो वीर निर्द्वन्द्व रूप से अपने सिर को हथेली पर रक्खे दृढ कदम बढ़ाता हुआ सामने आ खड़ा होता है; वहाँ अगर नारीत्व का अपहरण करने के हेतु नीच व पौरुषहीन आततायी

नग्न नृत्य का सूत्रपात होता है, तो नारी स्वरक्षा हेतु दुर्गा बन जाती है औ
जीवन के ऐसे परीक्षण क्षण कि उसका प्रिय रणभूमि से रक्तस्नात लौटा है, वह गाजे
वाजे के साथ चन्दन की सेज अपने हाथों से सजाती है, उसमें अग्नि डालती
और धधकती शिराओं में प्रवेश कर अपने प्रिय के मस्तक को गोद में लिए चिर
समाधि में लीन हो जाती है। लौकिक मनोवृत्ति तथा तार्किक दृष्टि जीवन के इ
विभूतिमय रूपों को तोलना चाहती है पर उनके पास वे तोल हैं कहाँ, जिनके
द्वारा मोल आंका जा सके? राजस्थान की तप्त बालूभूमि में इस भाव-लोक क
उठान हुआ था, यह स्वाभाविक था कि हमारे देश का वायु मण्डल झकझो
उठे और चारों ओर से इसी ओर घूम जाय, झुक जाय। उस समय उसके सच्चे
मूल्य को आंका गया था भारत के अनेक साधु-सन्तों— सहजयान, गोरखपंथी
सूफी, नाथपंथी आदि, जैन मुनि, भक्त, चिन्तक, कलाकार सब के द्वारा। उन्होंने
पग-पग भूमि चल कर उस चेतना के दर्शन किये थे। इससे उन्होंने जो पाया
उसके प्रतिदान रूप उनका इकतारा झंकृत हो उठा था। जीवन जब मानव का
की विभूति लेकर क्रियमान होता है, तो जिस अपूर्व सौन्दर्य का चारों ओर विस्ता
होता है, उसके अन्तर्गत संस्कृति, साहित्य, कला व भाषा अपना नव रूप धारण
करती है, उनके बसन्त में नव-नव रस-रंग के मुकुल खिल उठते हैं और न
ध्वनि के मधुर बोल कोकिल कूक से स्वतः ही गुंजायमान हो जाते हैं। चित्रकू
में एक समय बीज रूप वह अंकुरित हुई थी तथा राष्ट्र की सारी शक्तियों क
सम्मेलन उसी स्थान पर सम्पन्न हुआ था। महाभारत काल में वह ज्योति कुरुक्षे
के उद्वेलित विस्तार में प्रस्फुटित हुई थी। और ब्रह्मा के सृष्टि सृजन, जनमेजय
नाग-यज्ञ की जैसी महत् घटनाओं के बाद अगर राजस्थान की भूमि वैसी ह
चेतना के संचरण से पुनः स्पन्दित हुई तो वह यही काल था और इसी काल
आर्यावर्त की सब बिखरी शक्तियाँ इधर खिंचकर एकत्रित हुई थीं उस चेतन
को अपना अर्घदान देने के हेतु। अपनी 'खोज की पगडण्डियाँ' नामक पुस्तक
में श्री मुनि कान्तिसागर ने राजस्थान में संगीत विषय पर लिखते हुए यह
अभिमत प्रकट किया है:—

"भारतवर्ष के प्रान्तीय इतिहास विषय साधनों पर दृष्टिपात करने से
अवगत होता है कि राजस्थान और गुजरात ही ऐसे प्रान्त हैं जिनके निवासियों
ने अविकल रूप से अपने जन-इतिहास की नैतिक परम्पराओं को साहित्यिक
एवं मौखिक न केवल सुरक्षित रखा है, अपितु उन्नतिशील तत्वों से अपने जीवन

निर्मित हुआ है। एक समय था संगीत, साहित्य और ललित कलाओं का राजस्थान में विकास अपनी चरम सीमा पर था। ये त्रिपुटि ही मानव संस्कृति को विकसित करते-करते शिवं सुन्दरम् द्वारा सत्यं तक पहुँचाती है।······"

और इस सत्य को पूर्ण रूप से हृदयगम्य जैसे नहीं किया गया है।

वाचालता का दोषारोपण किया जाये, पर जब मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ वह निष्ठा से कह दूं तो फिर क्या गुण, तथा क्या दोष—सब ही सार्थक से हो जाते हैं। इस सार्वभिक चेतना को न उसकी परिपूर्ण इकाई में समझा गया है और न उसके व्यापक प्रभाव व महत्व को निगूढ़ अनुभव किया गया है। मैं पहले कह चुका हूँ कि राजस्थान का इतिहास बहुत बँधी लकीरों के आधार पर लिखा गया है और उसे यों ही पढ़ा गया है। हिन्दी भाषा और साहित्य के आदिकाल की टोह में भी वैसी ही रीति का, जाने अनजाने में, पालन किया गया है। राजस्थानी साहित्य जो भी उपलब्ध हो सका है, उसका अध्ययन व विवेचन विशेषकर विदेशी और फिर राजस्थानी तथा हिन्दी के विद्वानों ने किया है और अपने ही ढंग से उसकी महत्ता पर स्वीकृति भी दी है, सो हम उनके बड़े कृतज्ञ हैं पर ऐसा लगता है कि हिन्दी-क्षेत्र में यह हुआ है विवश-सा, अनचाहा-सा और इसीलिए अपनी अपनी संकोच-ग्रन्थी से तर्क-वितर्क का गुबार उड़ाया जाता रहा। राजस्थानी और हिन्दी इस खींचातानी में आखिर प्रतिद्वन्द्वी के रूप आमने-सामने लाकर खड़ी करदी गई हैं। अधिकांश रूप से अध्ययन की सामग्री केवल खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि वृहत् काव्य तथा फुटकर सन्त वाणियाँ ही रहे हैं और वह अध्ययन भी इतिहास व भाषा सम्बन्धी ऊहापोह लिए हुए हैं। एक ने इतिहास का प्रमाण देकर और दूसरे ने भाषा का रूप स्थापना का इजारा घोषित कर उन्हें इस-उस काल में घसीटा है और फिर उनको संदिग्ध प्रतिपादित किया है। 'पृथ्वीराज रासो' एक ज्वलंत उदाहरण है। यह बात तो सर्व विदित है कि ऐतिहासिक सत्यासत्य के आधार पर ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी एक समय बीच में बन्द कर दिया गया था और ऐतिहासिक विश्लेषण द्वारा यह भी प्रमाणित कर दिया गया कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में नहीं था और आज इस लम्बे वाद प्रतिवाद के स्वयं झंझट के बाद यह तो माना जाने लगा है कि चन्द अवश्य पृथ्वीराज का राजकवि तथा महाभट्ट था। कविराज मोहनसिंह की लेखमाला इस सम्बन्ध में पठनीय है। अतः वे विद्वान् जो इतिहास-प्रियता में डूबे हैं और वे जो भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों को केवल प्रमाण मानते हैं—वे यों अपने तर्क छन्द रूपों के सहारे

खण्डित होता हुआ देखें, तो और कुछ नहीं इससे वे एक चुनौती जरूर पाते हैं। आखिर ऐसे एकांगी तथा सफाट निर्णय का योग क्या, मूल्य क्या ? मेरे विचार से साहित्य समीक्षक के लिए ऐसा दृष्टिकोण, जैसा कि आरम्भ में मैंने कालीदास के शाखा-काण्ड व उष्ट्र-घोष सम्बन्धी विवेचन में स्पष्ट करने की कोशिश की है, विशेष सार्थक सिद्ध नहीं होता। ऐसी विवाद-ग्रस्त मनोवृत्ति का ही फल है कि हम उन प्राचीन काव्य-सामग्री की वस्तु के प्रसार, संगठन तथा सौष्ठव को भले ही कुछ अंशों में समझने में सफल हुए हों, पर उनकी काव्यात्मा को वस्तुतः परखने व अनुभूत करने में पिछड़े ही हैं। क्यों ? आखिर वह युग-चेतना हमारी दृष्टि से ओझल ही रही है, जिसके प्रकाश में ये विविध व विशद् पुष्पवत् काव्य-ग्रन्थ हमारी धरती पर खिले थे। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस कथन में वस्तुतः सार है कि 'इस 'अन्धकार युग' को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय उसे सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल इस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्-पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है। इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा की पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी न किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती है।' फिर भी, अवज्ञा और उपेक्षा इतनी घनीभूत है कि आज भी जो कुछ लिखा जाता है वह लकीर पीटने के समान है। इधर 'आलोचना' पत्र में डॉ० हरद्वारी-लाल शर्मा द्वारा लिखित एक विशद् लेख 'भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन का क्रमिक विकास, सिन्धु-सभ्यता से रीतिकाल तक' शीर्षक पढ़ने में आया और मध्यकालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लेखक महोदय ने यही मत हमारे सामने उपस्थित किया है, 'भारत में मध्ययुग का प्रथम पहर आरम्भ हुआ। यह आतंक, निराशा, पराजय और संघर्ष का युग था। राजपूत राजाओं की विलास प्रियता में पड़ कर सौन्दर्य चेतना और उससे उत्पन्न होने वाली कला भी विलासिनी हो गई थी। ऐसे समय में जब धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन पर मुसलमानी आक्रमण हुआ तो राष्ट्र का ऐतिहासिक प्रवाह गम्भीर होकर अन्तस्तलों पर बहने लगा। सारा वायुमंडल रण-नाद से गूँज उठा, तूलिका के स्थान पर तलवार संभाली गई, नृत्य समाप्त हुआ।

'विजेता और विजित के संघर्ष से सौन्दर्य के स्थान पर शौर्य तथा

कोमलता के स्थान पर दृढ़ता का आदर हुआ। मध्ययुग के आरम्भ में जहां भक्त और सन्तों की वाणी ने पुराने आदर्शों के पुनर्जागरण से जन-जीवन को सुरक्षित रखा वहाँ दूसरी ओर दृढ़ दुर्गों के निर्माण हुए। सारा राजस्थान और मध्यभारत इन्हीं दुर्गों से परिपूर्ण है। ये दुर्ग, जो पहाड़ों को काटकर भयंकर घाटियों, वन प्रदेशों, झीलों आदि के मध्य में बनाये गये हैं, उस समय की रक्षा-भावना के चिह्न हैं। इनमें विशालकाय फाटक, जिनमें चमचमाती लोहे की कीलें जड़ी हैं, भयंकर तोपें और हथियार, लोहे के कवच और शिरस्त्राण आदि हैं, जो उस समय की विकट भावना की सूचना देते हैं। इस काल में न मन्दिर बन सके, न मूर्तियों का निर्माण हुआ और न चित्रों का अंकन ही हो सका।"

यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि भारत में मध्ययुग का प्रथम प्रहर आतंक, निराशा, पराजय और संघर्ष का समय था और इसे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह राजपूत राजाओं की विलास-प्रियता से बहुत कुछ लिप्त था—पर ये लकीरें ही तो राजस्थान के तत्कालीन जीवन को सर्वांश रूप से बांधे हुए नहीं थीं। अगर होतीं, तो राजस्थान उस सर्वग्राही राष्ट्रसंकट को एक त्राता के रूप में सहकर, बाद में गौरव से अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख सकता था। जिस आग की लपटों से धरती का आतंक, निराशा तथा पराजय और साथ ही राजभवनों की विलासप्रियता, अहंकार, अकर्मण्यता ध्वस्त होकर अरावली के चट्टानों तथा मरुभूमि के बालू-कणों पर बलिदान की स्वर्णिम-आभा रूप फूट पड़े थे, उसकी इस विश्लेषण में झलक भी नहीं है। आतंक, निराशा, पराजय तथा 'अत्याचार के श्मशान में मंगल का, शिव का सत्य-सुन्दर संगीत का समारंभ होता है' (प्रसाद) वहाँ जिस सहजता से केसरिया बाने में पानीदार तलवार चमकती है तथा जिस सहजता से प्रज्ज्वलित ज्वालाओं में सतीत्व की रक्षा होती है, उसी सहजता से लाल अम्बर के नीचे रूप-रंग का फाग भी देखा जाता है। शौर्य तथा दृढ़ता तो तलवार के टूटते ही खंडित हो सकते हैं अगर इनके पीछे कोई चेतना की चिनगारी न हो। दुर्गों की अभेद्यता भी जनमन-दृढ़ता की ज्योति में ही सुरक्षित रह सकती है। इस युग में, वस्तुतः, तलवार भी चली, कलम भी चली—और इसीलिए इस सार्वत्रिक चेतना में सरस्वती भी प्रसन्न हुई थी, मुखरित हुई थी। अतः श्री मुनि कान्तिसागर के इस निष्कर्ष में सत्य का बल है कि यह समय संगीत, साहित्य और ललित कलाओं का राजस्थान में विकास अपनी चरम सीमा पर था।

इस युग की ऐसी चेतना थी जिसमें जीवन की बहुमुखी प्रवृत्तियों रा

उदय व विकास हुआ था। और विडम्बना यह है कि हिन्दी साहित्य में इसे 'अन्धकार काल' से उल्लिखित किया जाता है। इस काल के राजनैतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक संचरण के अलावा जो एक सबसे महत्वपूर्ण 'धरोहर' मिली है, वह है माँ-भारती की वरदान रूप 'हिन्दी'। शौरसेनी अपभ्रंश की ऐश्वर्यमयी क्रोड में हिन्दी-शिशु किलकारियाँ भर उठा था। इस शिशु का जन्म-काल महान् भयंकर था—उतना की जितना कृष्ण जन्म। समस्त सिंधु व गंगा-यमुना का विशाल प्रदेश विदेशी आक्रान्ताओं के सम्भावित आक्रमण के भय-त्रास का बन्दीगृह बना हुआ था। जैसे कृष्ण मथुरा के कारावास में पैदा हुए और खुशियाँ मनाई गई बृन्दावन, वैसे ही राजस्थान को ही अपनी विशेष स्थिति के कारण हिन्दी का बालक्रीडा क्षेत्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, चाहे इस धरती को हिन्दी मूल भूमि मध्यदेश की पार्श्ववर्ती ही क्यों न समझा जावे। तो भूमि यही है जहाँ घनघोर वर्षा की एक भीषण रात्रि में किसी अव्यक्त चेतना के संकेत से प्रेरित मथुरा के बन्दीगृह से एक शिशु गोकुल में पहुँचा दिया गया था। जनभाषा हिन्दी की यही रंजनकारी नियति रही। इस सत्य को जानने के लिये सूत्र है, पर वह निर्लिप्त आग्रह व व्यापक उदारता नहीं है, नहीं तो इस भूमि को मध्यदेश की पार्श्ववर्ती मानकर एक अखंड पूर्ण विराम लगाने की और उस पर बल देने की चेष्टा नहीं होती। भाषाविद डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना और उनके सहारे अन्य लेखक यहाँ तक कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तक की मान्यता ऐसी ही है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी फिर भी अधिक सजग व स्पष्ट है जब कि वे यह स्वीकार करते हैं कि—'वस्तुतः १४वीं शताब्दी से पहले की भाषा का रूप हिन्दी भाषा प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। कुछ अधिक प्रामाणिक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ और शिलालेख आदि से ही उस भाषा का परिचय मिल सकता है। दुर्भाग्यवश इस काल का ऐसा साहित्य उपलब्ध नहीं है।' वस्तुतः यह दुर्भाग्य जान-बूझ कर मोल लिया गया है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि और तो क्या 'सूर-सागर' जो व्रजभाषा का महत्त गौरव ग्रन्थ है उसकी प्राचीनतम प्रतियाँ भी राजस्थान भूमि में सुरक्षित हैं।[1] यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, और न यह हो सकती है कि राजस्थान के कई स्थानों पर जो प्राचीन हिन्दी-साहित्य की विपुल सामग्री अब भी बस्तों में बन्द

१—(अ) राजस्थान साहित्य पत्रिका, लेख—क्या सूरदास ने सवा लाख पद लिखे थे? लेखक—श्री मेनारिया।

(आ) राजस्थानी (२) खण्ड; राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता।

रवि किरण से भी अस्पर्श ठट्ठ जमी पड़ी है वह उस क्षेत्र की, बहुमूल्य सामग्री है जिसे हिन्दी भाषा प्रदेश कह कर पुकारा जाता है। प्रश्न यह है कि हिन्दी को यों एक विशिष्ट क्षेत्र में बद्ध करने की राज क्या है, वे ऐसा मान कर हिन्दी का क्या लाभ देखते हैं? डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अपनी 'राजस्थानी-भाषा' शीर्षक पुस्तक में शौरसेनी अपभ्रंश के सम्बन्ध में यह अभिमत प्रकट किया है कि उसमें एक प्रौढ़-साहित्य विद्यमान था, 'पर इसकी भाषा प्रारम्भ ही से किसी खास प्रान्त की अधिकृत लौकिक कथ्य या चालू भाषा नहीं थी—यह भाषा मुख्यतया गुजरात, राजस्थान, अन्तर्वेद तथा पंजाब में प्रचलित बोलियों के आधार पर स्थापित एक मिश्रित भाषा या साहित्यिक शैली ही थी।' सन्त-साहित्य की बात जाने दीजिए, चारण कवि चन्द बरदाई भी 'षटभाषा' की बात करता है—उसमें भी उस युग की चेतना ही बोल रही है जिसकी स्वर्णछाया में हिन्दी लीलामय होकर विकास प्राप्त कर रही थी। जब भाषा जन-शक्ति की निर्माणात्मक साधना में रूप-विन्यास रचती है तो उसकी विकासोन्मुख सत्ता में वह वेग व बल होता है कि साहित्य के विशिष्ट भव्य लोक में विचरण करने वाले सुलेखक भी उसके नैसर्गिक गुणों से आकृष्ट तथा उसकी सर्वग्राही लोकप्रियता से अभिभूत होकर उसे अपनाते ही हैं, पर आखिर अपनी परम्परागत सुसंस्कृत रुचि और कलात्मक निष्ठा की ओर अभिजात वर्ग की परिष्कृत रुचि को तुष्ट करने के दबाव में वे पूर्वग्रहों से अपने को पूर्व रूप से मुक्त भी नहीं कर पाते। इसीलिए एक ओर उस समय कुछ विशिष्ट चारण कवियों तथा जैनाचार्यों का साहित्य, जिनका सम्पर्क राजकुल से था, अपभ्रंश के रूढ़ कलागत वैभव से मंडित है और दूसरी ओर पद-यात्री साधु-सन्तों की वाणी जिनका सम्पर्क प्रान्त-प्रान्त के जन-जीवन से था, अपने सहज रूप में सरस व सशक्त है। अतः जन-वाणी से कोई कम तथा कोई अधिक प्रभावित है ही पर इन दोनों में ही उसकी झंकारें स्पष्ट ध्वनित हो रही हैं। अपनी धात्री अपभ्रंश के गुणों से हिन्दी का तन मन रमा हुआ था और उसने ऐसी जन चेतना में अपनी भव्य लीला प्रारम्भ की। इसे युग युग को चेतना प्रदान करने का गौरव अब तक मिल चुका है और अवश्य यह शनैः शनैः ऐसा विराट् रूप भी धारण कर सके कि हमारे नवराष्ट्र के मंगल सन्देश को देती हुई यह देश काल की रेखाओं को पार कर विश्व की सुखद छाया को स्वीकार कर जाय। हिन्दी अपनी माता की प्रतिरूप तो है ही—पर है उससे भी अधिक शक्तिशाली व भाग्यवती। तो ज्यों मानव-काया में रक्त बनता है और वह शिरा शिरा में संचरित होने लगता है, तब उसका—उस रक्त का एक स्थान निर्दिष्ट करना असम्भव है, आखिर वह तो सभी अंगों में प्रवाहित होकर वर्तमान है,

उस सब को अपने दान से परिपुष्ट कर रहा है, त्यों ही शौरसेनी अपभ्रंश की तरह हिन्दी का भी यही गौरव है कि वह किसी एक अंग की नहीं है, सब की है, राष्ट्र की है। राजस्थान ऐसे किसी स्वत्व का अभिलाषी नहीं है पर वह इतनी जरूर मांग करता है कि एक समय हिन्दी-शिशु इस भूमि पर लीलामय था, और कि उस काल की अधिकांश निधि, चाहे उसका सृजन कहीं क्यों न हुआ हो, यहीं कहीं लुकी-छिपी सुरक्षित है, तथा उसके प्रति भारी उपेक्षा व अवज्ञा बरती जा रही है। व्रजलोक का कन्हैया तो अपने विराट व्यक्तित्व से देश-काल की रेखाओं को पार कर गया, तो भी उसे अन्त तक जैसे मथुरा, जैसे द्वारिका, वैसे ही गोकुल भी प्रिय रहा। अक्रूर के सतत, तर्क-वितर्क के बाद भी कृष्ण व्रज को भूल नहीं सके—'ऊधौ मोहिं व्रज बिसरत नांहीं।' और हिन्दी अपने व्रज को भूल जाय यह चेष्टा आज तक समझने समझाने की बहस में होती रही है। वस्तुतः समझने की बात यह है कि राजस्थान उसका एक बड़ा छोर उसी के अन्तर्गत माना जाता है, जिसे मध्यदेश की पार्श्व भूमि कहा जाता है। समझने की बात यह है कि इस चेतना के क्षण में यहाँ पर द्वार द्वार घूमने वाले सन्त-कवि ही नहीं इस क्षेत्र के राजकवि भी जहाँ षड्भाषा की बात करते हैं, वहाँ जिसे मध्यदेश कह कर सीमा-बद्ध किया जाता है उसके एक प्रबल राज्य में संस्कृत साहित्य के लिखने-लिखाने तथा पढ़ने-पढ़ाने का दम्भ किया जाता था और वह दम्भ-दंश इतना गहरा पैठ गया था कि बाद में—बहुत दिनों बाद में जब इस विशाल चेतना के विकीर्ण कणों से उद्बुद्ध भारत के प्रांत-प्रांत की काया अपनी वाणी में मानव जीवन की विमल गाथा गाने लगी थी, उस समय भी वह बोखला उठी थी, 'भाषा कवि भा मंदमति'। समझने की बात यह है कि संक्रांति काल की साहित्यिक भाषा का रूप विविध हो सकता है। जगत की गति ऋत व सत् शक्तियों के समविषम संचरण में अविरल प्रवहमान है और इसी भाँति भाषा अपना नव रूप धारण करती रही है, उसमें परिवर्तन तो सतत होता ही रहता है, पर एक अनमोल क्षण आता है जब मानस की नव चेतना में उसका नवरूप पहिचान लिया जाता है। इस समय उदारचेता मनीषी उस भाषा के सहज रूप में मानव जीवन के नये सत्यों का उद्घाटन करते हैं और सत्ताभोगी कलाकार अपने पूर्वग्रहों से ग्रसित होते हुए भी बरबस उसे अपनाते हैं पर पूरे साज शृंगार के साथ। यह वैषम्य कुशल भाषा-वेत्ताओं को भी भ्रम में डालता रहा है। भाषा-शास्त्र की मुझे काम-चलाऊ जानकारी है, फिर भी इस शास्त्र के मानेता पंडितों के तथ्य-निरूपण तथा निर्णय को पढ़ने का चाव मुझे रहा है। उनके ढंगढाल को देख मेरी कल्पना भी अनायास ही चौकड़ी भरने लगती है। सोचता हूँ कि वह काल

कैसा होगा जब श्री प्रसाद तथा श्री प्रेमचन्द की भाषा का अध्ययन कर भावी युग के भाषाविद् उनके जीवनकाल में ५०-६० वर्षों का अन्तर घोषित करेंगे, और··· और श्री हरिऔध को दो व्यक्तित्व में बाँट कर उनकी रचनाओं में ही एक दीर्घ काल का भेद निर्धारित कर देंगे। 'भाषा का रूप इस-उस काल का नहीं।' ऐसी एकांगी वृत्ति उस युग की कृतियों के अनुसंधान का आधार बनी रहे वह भ्रम के विस्तार का ही कारण बनेगी। डॉ० बड़थ्वाल, श्री राहुल तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जो राह अपनाये हुए दिखलाई देते हैं वह अधिक सार्थक व लाभप्रद है। समझने की बात यह है कि राजस्थान का अधिकांश साहित्य जैसा मान लिया गया है कि सामन्तवादी चारण-भाटों तथा धार्मिक जैनाचार्यों की रचनाएं मात्र है सो ठीक नहीं है। एक तो इन कृतियों के अलावा भी साहित्य पर्याप्त है और दूसरा इन बदनाम साहित्य-सेवियों की देन, नगण्य सामग्री को छोड़कर, न सामन्तशाही और न साम्प्रदायिक कुंठित मनोवृत्ति का पोषण करती है। उनमें तो जन-जागृति की वही लौ झिलमिला रही है जिसकी प्रेरणा से राजस्थान का जीवन खुलकर खेला था। और समझने की बात यह है कि राजस्थान का यह साहित्य इतना विपुल और विशाल है कि केवल कुछ स्वावलम्बी राजस्थानी साहित्य-सेवियों के प्रयत्न तथा राजस्थान सरकार द्वारा आयोजित अनुसंधान-मन्दिर अपने सीमित साधनों में एक निर्दिष्टकाल के अन्तर्गत वांछित कार्य करने में सफल हो सकेंगे, यह काफी संशयात्मक है। इस ओर सबका ध्यान जाना तथा निष्ठापूर्वक क्रियाशील होना अति आवश्यक है। और विशेष रूप से समझने की बात यह है कि इस युग की देन का—चाहे संस्कृति, चाहे साहित्य तथा चाहे कला के विभिन्न रूपों में—अनुसंधान विश्लेषण तथा मूल्यांकन इस आधार पर करना है कि ये सब उस काल की एक महत् चेतना के फल रूप हैं। यह चेतना जन-जीवन के कर्म को जगाने वाली तथा उसके कर्म-संघर्ष में स्वर्ग से न हारने वाली थी। अपनी स्वर्ण किरणों से इर्द-गिर्द की सब सीमाओं को छूकर यह देश-काल को जीवन-कण प्रदान कर गई। राजस्थान के नारी मन का चिनगारी बंगाल के सुदूर कोने को ज्योतिर्मय कर गई, अकबर के भव्य दरबार में राज-सामन्त कवि की मुक्त वाणी में प्रताप की स्तुति गूंज उठी, और औरंगजेब से टकरा कर दक्षिण में शिवा व पश्चिम में छत्रसाल के बाहुबल का गान बन मचल उठी। देश में वह जो पहिले निर्गुण तथा फिर सगुण भक्ति-धारा प्रवाहित हुई और उनसे भागीरथी के समान देश का तन मन निर्मल व शांति सम्पन्न हुआ था, वे इस चेतना से अभिमन्त्रित नहीं रही हों, ऐसा क्यों कर कहा जा सकता है? यह तो ठीक है कि इस राज्य के परिस्थिति-दोष से धार्मिक

तथा दार्शनिक संचरण अनिवार्य था, पर यह संचरण भी जन-जीवन के उस कर्म-मंथन से ही धन्य हुआ था।

मैंने पहिले यह स्वीकार किया है कि उस चेतना-काल में जो शक्तियाँ प्रवुद्ध नहीं हुई थीं, जिनके मानस क्षुद्रता से आक्रान्त थे, वे ही उस काल में अन्तर्विरोध का कारण बनीं। फिर मुगलों के वैभवमय दरबारो में राजभक्ति प्रदर्शित करती हुई वे अपनी राजपूती टेक को निभाती रहीं और इससे भी उपरांत यह राजभक्ति ऐसी गलित व सारहीन हो गई कि साम्राज्यवादी अंग्रेजों के आगे भी उसी प्रकार प्रकट की जाने लगी जैसे मुगल बादशाहों के सामने। ये शक्तियाँ प्रभुत्व व ऐश्वर्य के दम्भ में जन-शोषण का कारण बनी, पर ऐसा नहीं कि वे उस चेतना-कण से अछूती रही हों, इसलिए उनके रागरंग से गलित हृदय में धंसी आग समय समय पर प्रदीप्त होती हुई देखी गई है और उसी के अनुपात में उनके द्वारा प्रसंशनीय काम भी समय समय पर होते रहे हैं। पर वे सब पाप की घटाओं में बिजली की कौंध के समान क्षणिक है, विरल हैं। जब भारत का तोरणद्वारवत् राजस्थान अपने वीरत्व में ही टूटा, तो इन शक्तियों ने अपने हाथ से अपनी मूल सत्ता विजेता के चरणों पर न्यौछावर कर दी और फिर आतंक व वैभव के प्रसार में व एक कृत्रिम सत्ता का अभेद्य जाल बिछाने के निष्ठुर प्रयत्न में वे जुट गयीं। उनकी महत्वकांक्षाएँ यश-प्रतिद्वन्द्विता में पनपने लगीं। जब धरती का यह कीर्ति-गान दिग्‌दिगन्त को प्रतिध्वनित कर रहा था, 'माई एहड़ो पूत जण, जेहड़ो राणा प्रताप।' तो गगन-चुम्बी राजप्रसादों से यह चीत्कार उठकर शून्य में विलीन हो जाती थी, 'माई एहड़ो पूत जण, जेहड़ो मान मरद्द'! धीरे धीरे यह मरदानगी वांछित यशकामना की असफल कुंठा में अधिक से अधिक विरूप बनती गई तथा विलासमय भोगों में रमकर छटपटाने लगी, और उसकी उन्मत्तता में गत्यवरोध, अत्याचार तथा दमन का ऐसा क्रूर-चक्र चला कि प्रजा की काया चर्रा उठी। कितने दीर्घ काल का यह काला इतिहास है और इसके अन्तगत इस तिहरी—विदेशी शासक, देशी राजा-महाराजा और ठिकानेदारों की गुलामी का शिकंजा बड़ा नृशंस, बड़ा मारक! फलस्वरूप राजस्थान की जनता ने तन खोया, मन भी खोया, पर फिर भी यह चेतना-कण, जो सन्तों की वाणी के रूप में उनकी जबान जबान पर चढ़ा हुआ था, बुझ नहीं गया। श्री विनोवा भावे ने समाज में आग लगाने वाले ग्रन्थों का जिक्र करते हुए एक जगह कहा है कि अंग्रेज सरकार के जेलखानों में मुझे विना हूल हुज्जत गीता, उपनिषद् तथा सन्तों के चारित्र मिल जाते थे, वे बेवकूफ नहीं समझते थे कि उनके राज्य के लिए अगर सबसे ज्यादा

खतरनाक चीज थी तो ये ही ग्रन्थ थे। उनका अनुभव है कि जो राजनैतिक कैदी वहाँ गये थे उनको हमेशा इन ग्रन्थों ने हिम्मत दी थी और इन ग्रन्थों के कारण अधिक तेजस्वी होकर वे बाहर निकल पड़े थे। इस सुदीर्घ तिहरी गुलामी में जीवन बसर करने वाली राजस्थान की जनता बाहरी रूप से सर्वनाश की स्थिति में थी पर भीतर जो उनमें आग सुलग रही थी, वह इन प्राणहन्ता अत्याचारों के बावजूद भी बुझी नहीं। राजस्थान धरती का पूत दिन भर पसं की आग में तपकर रात्रि के शीतल क्षणों में अपने प्रिय सन्तों की वाणियाँ झूम २ गाकर उस लौ को प्रज्वलित रखते रहे। यों घोर निराशा में भी हिम्मत टूटी नहीं, उनकी जोत बुझी नहीं।

हो सकता है कि यह एक संयोग ही हो कि सन् १८५६ में दिल्ली-सम्राट् बहादुरशाह ने एक पत्र द्वारा राजस्थान के राजा-महाराजाओं को एक सूत्र में संगठित होने तथा फिर विदेशियों को अपनी मातृभूमि से बाहर करने के हेतु आह्वान किया था; हो सकता है कि यह भी संयोग ही हो कि अंग्रेज कूटनीतिज्ञ-शासक भी अपनी अपदस्थ व अपहरण की नीति को मुलायम कर राजस्थान के राजा-महाराजाओं से 'दोस्ती-लंदन' का सम्बन्ध स्थापित करने को विवश हुए; हो सकता है कि यह भी संयोग ही हो कि स्वामी दयानन्द ने राजस्थान के हृदयस्थल अजमेर को मुख्य केन्द्र चुनकर एक धार्मिक व सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, हो सकता है कि यह भी संयोग ही हो कि नेशनल कांग्रेस के मंच पर जब प्रथम बार महात्मा गांधी का आगमन हुआ और उन्होंने अपनी नई नीति के अनुसार विदेशी-सत्ता से लोहा लेना आरम्भ किया, तो 'खिलाफत आन्दोलन' की ऐतिहासिक मन्त्रणा अजमेर में हुई, पर इसे एक ऐसे ही संयोग की बात क्योंकर कही जाय कि महात्मा गांधी के महामन्त्र 'असहयोग' का स्पन्दन सर्वप्रथम राजस्थान के एक कृषक सेनानी के हृदय में ही हुआ। बिजोलिया, वस्तुतः, राजस्थान-कृषक समाज के कार्य व त्याग की तीर्थभूमि बन गई है जहाँ इन्द्र के भीषण प्रतिशोधात्मक कूट माया-प्रकोपों के घटाटोप आच्छादन के बीच एक चेतना-दीप प्रदीप्त हो उठा, जीवन की एक गम्भीर ललकार गूंज उठी और वह शनैः शनैः इतनी प्रखर हो गई कि स्वयं इन्द्र को अपने सारे अस्त्र-शस्त्र, सत्ताधिकार व कूटनीति के साथ उस ज्योति के सम्मुख झुकना पड़ा। यह सफल कृषक असहयोग-आन्दोलन भारत के ही नहीं, विश्व के आधुनिक इतिहास में प्रथम ही है, दिव्य ही है।

खैर, यों इस तिहरी गुलामी के दमन, उत्पीड़न व अनाचार के गहन आच्छादन के ऊपर तो ऐश्वर्य व सत्ता का दम्भ, मदिरा व विलास की [illegible]

लालसा, रूढ़ आचार-विचार-पालन की अन्ध-दृढता तथा विपुल साधनों मे पन-पने वाली अकर्मण्यता का स्व-हंता स्वांग देशी रजवाड़े रच रहे थे और उसके नीचे असह्य भार से दबी विवश व भयभीत प्रजा गरीबी, अशिक्षा, रूढ़िवादिता व साधनहीनता से आक्रान्त ठंडी सांसें ले रही थी। पर जैसा मैंने कहा कि उसका पैर फिर भी राजस्थान की तप्त बालूभूमि पर था, इसलिये ग्रामीण प्रजा कर्मठ थी तथा उसके हृदय में सन्तवाणी झंकृत हो रही थी। इस राज को सामंतशाही उनके सभ्य, शिक्षित कुशल नागरिक हुक्काम, पूंजीपति, राजनीतिज्ञ तथा यहाँ तक कि लोकनायक भी नहीं जान सके, जाने वे ही जो ग्रामीणों के इन विविध वैषम्य-आवरणों को पार कर उसके हृदय के समीप आकर बैठ सकते थे और इसलिये राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम प्रहर में बिजोलिया में जो कृषक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ उसका अधिष्ठाता एक कवि जनसेवी 'पथिक' ही बना था। बिजोलिया संग्राम का सूत्रधार 'पथिक' जीवन-पर्यन्त पथिक बना रहा और उसके कवि-व्यक्तित्व का एक स्वर राष्ट्रीय ध्वज की छाया में उत्सर्ग होने वाले युवकों के कंठों का पथिक बना रहा। राष्ट्रीय-आन्दोलन के काल में 'विजयी विश्व, तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा।'- यह गान-जन-जन का प्रेरक रहा है। यह पथिक चलता रहा टेढ़ी-मेढ़ी राहों पर, ऐसी अजान कि शायद जिनके दूसरे छोर के सम्बन्ध में उसे बोध भी नहीं था, पर उसका साहस व शक्ति अदम्य थी, और उसकी राह भी इसीलिये चलती रही। यह पथिक गाता रहा अटपटी रागों को ऐसा सहज कि शायद जिसकी स्पष्टता में ही कोई ऐसी ठण्डी आग थी जो जानी नहीं जाती थी पर मार करती थी गहरी, और उसका राग भी इसीलिये झंकृत होता रहा।

'पथिक' आज नहीं है—और दुर्भाग्य, एक दूसरी दुखद घटना उस चिर-निद्रा से लिपटी हुई है—फिर भी पथिक का वह पथ पगध्वनियों से मुखरित है, उसका स्वर- नव-कण्ठों में आलाप भर रहा है, यही सन्तोष व आह्लाद की बात है। राजस्थानभूमि की ऐसी राहों पर चलते हुए और ऐसी राग-साधना में लगे हुए ये नवयुवक कवि साथी मेरे इर्द-गिर्द खड़े हैं, वे अपने युग की घड़ी को देख और आगे की घड़ी का स्वप्न पाकर उसके रूप-वैभव को धरती पर खींच लाने का सन्देश दे रहे हैं।

कहा, 'पथिक' चला गया, दुर्भाग्य हमारा, और फिर सुधीन्द्र भी! सच है दुर्भाग्य अकेला नहीं आता। वह संघाती व संयोगी दिन मुझे याद है। पिछली

साल इन्हीं गर्मियों की छुट्टियों में मैं उदयपुर गया था और बिजोलिया-वीर 'पथिक' के निधन पर स्थानीय साहित्यिक मित्रों ने एक शोकसभा का आयोजन किया था; वहाँ प्रांत की उस विराट् प्रतिभा के प्रति श्रद्धा अर्पित की जा रही थी कि दिल्ली के एक दैनिक-पत्र के आधार पर यह खबर कान कान में सुन पड़ी कि "सुधीन्द्र दा भी ......" क्या ? कैसे ? ऐसे ही अनेक में एक ही प्रश्न सबको स्तब्ध, निष्पन्द, मौन कर गया—बोलने वाले को भी और सुनने वाले को भी। यह कैसा दर्दनाक व संहंता संयोग है राम ! बस, बची कार्यवाही फिर निगूढ़ मौन में ही पूरी हुई। और फिर बोध हुआ कि प्रान्त के राष्ट्रीय 'आगीवाण' के साथ-साथ प्रान्त का राष्ट्रीय कवि भी छोड़कर हमें चला गया है आज, कल, सदा के लिये। अपने को भुलावा दे देकर भी आखिर विश्वास करना नसीब में था, पर हम विश्वास में जो खोया उसे क्या हम समझने में समर्थ हुए हैं ?

(स्व०) सुधीन्द्र भाव-रूप से पथिक के पथ पर ही चलने वाला था। पथिक तो नई जिम्मेदारियों को ललक कर ओढ़े नये पथ पर चलने में, अनजानी भीषण कठिनाइयों को सहज पहचानकर बढ़ने में और साहस से अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचने के उद्दाम प्रयत्न में लगा हुआ था, और उसके स्वर को अपने अंतस् का राग बना राजस्थान का यह युवा कवि स्वातन्त्र्य-यज्ञ के प्रत्येक चरण व गतिविधि के भीतर जो प्रेरक भाव था उसे वाणी देने में रम गया था। उस कालांतर्गत उसके स्वर में एक ही प्रेरक-बिन्दु का भास था और वह राजस्थान-भूमि की उस जन-मानस की विभूति-वेष्टित पर निगूढ़ चेतना से अनुप्राणित था।

आज है जन-पथ ध्वनित, भूगोल डोला,
आज जब कि क्रांति का है ज्वार दोला,
आज जाने दो कि जन संकट बुलाता है मुझे,
लौट कर जीता करूँगा दान तुम से प्यार भी।

राजस्थान का यह कवि, गांधी-युग की विकास-वेला में इस 'त्याग-भूमि' पर खड़ा हुआ उदास व अतृप्त प्यार भरा हृदय लेकर भी केवल [illegible] रहा। वैसे 'त्याग-भूमि' का बाह्य आधार भी शायद उसने पाया था, राजस्थान की काफी शक्तियाँ वहाँ केन्द्रित हुई थी, पर वह एक पूंजीपति की क्रीड़ा-[illegible] थी, अपने हाथ का बनाया बालू-मिट्टी का घर ! जिस मनोवृत्ति ने उसे बनाया गया था, उसी से उसे तोड़-फोड़ भी दिया गया। और वे व्यक्ति, जो उसमें बसे थे, कुछ तो जरूर चिपके रहे, बाकी सब बिखर गये। उनमें [illegible] व्यक्ति; पर जो इस बाह्य आधार पर ही अवलम्बित नहीं थे, जिनकी अपनी त्यागभूमि थी, वे [illegible]

के भी—अनन्त पथ के एकाकी राही होकर भी उबर पड़े, चरण जमा कर खड़े हो गये। उन थोड़ों में से एक (स्व०) सुधीन्द्र भी थे।

वे जागरूक व प्राणवंत कवि थे। वे अपनी तथा अपने काल की गति व सीमा को जान गये थे और इसी कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की तरह वे वेग व शक्ति से अपने हृदय के एक-एक दल को खोल देना चाहते थे। वह एकनिष्ठ कलाकार जीवन के सामने की जटिल व भीषण परिस्थितियों के झोंके खाता हुआ, डगमगाकर क्षुब्ध होकर भी अपनी साधना में तल्लीन रहा। जैसे उसके सामने यह संकेत स्पष्ट हो चुका हो कि जीवन के अड़तीसवें बसन्त में उसके प्राणों का प्रिय द्वार पर उपस्थित होगा, तो वह तब तक जितनी गीत-माल बना सके, बनाले—उस विश्वमूर्ति के चरणों में उत्सर्ग के हेतु—

मृत्तिका के कुछ कणों में, लिया अमृत बांध मैंने।
कलश के कुछ बिन्दुओं में, सिन्धु पाया साध मैंने॥
अमृत बिन्दु रहे कहां, हा! सांस सौरभ बस गया है।
पुतलियों में है चुराया, मधुर रूप अगाध मैंने॥
कण मुझे तुमने दिया—
मैं प्राण तुमको दे रहा हूँ।

स्वातन्त्र्य-संग्राम के अन्तर्गत इस कवि के गीत वर्णमय-चित्र की सज्जा को उत्तरोत्तर प्राप्त करते हुए प्रेममय श्रेय की उत्ताल तरंगों से लहरा उठे थे, जो बाधा रूप विशाल चट्टानों को भी तरल कर और फिर खंड खंड कर बिखरे पत्थरों को अपने ही प्रवाह में बहा ले जाती हैं; और स्वतन्त्रता के बाद उन गीतों का स्वर निसर्गतः श्रेयमय प्रेम के आनन्द में भँवरियाँ लेने लगा। उसके शब्द में ध्वनि की गूँज, आभा व शक्ति और ध्वनि में शब्द का गठन. चमत्कार व चित्रोपमता की मोहकता है।

गाँधीयुग की सार्वजनिक-चेतना में हिन्दी साहित्य की प्रमुख धारा 'छायावाद' के नाम से अभिहित है—छायावाद ओंकार का, संक्षेप में, रूप-विन्यास है। उसका अपना शैली-कौशल तथा उसकी अपनी भाव-साधना है। समाज से उठ कर जो जीवन का उदात्त अन्तर्नाद है, उसका वह है एक भव्य वर्ण-चित्र। इसीलिये प्रमुख छायावादी कवि आकाश का स्वर्णिम वैभव धरती पर प्रसारित कर उसके वसन्त-श्री को गान गाता हुआ दिखाई देता है।

यह विशिष्ट धारा आज अपनी नवीनता में तथा सामयिकता में भी महत्व रखती है। वैज्ञानिक अनुसंधान से अनगिनत भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं। फलस्वरूप आज का मनुष्य अपनी पुरानी मान्यताओं की निष्ठा एक एक कर ऐसी खण्डित हुई देखता है, जैसे महमूद गजनवी के द्वारा सोमनाथ की मूर्ति को टुकड़े-टुकड़े होते देख देव-पुजारी ही नहीं—सारे भक्त, भारत के इस छोर से उस छोर तक के छोटे-बड़े वासी स्तब्ध और फिर निराधार हो गये थे। इस हत-प्रभ व निराश्रित दशा में आज के मानव के सामने भौतिक वस्तुओं का बाहुल्य भीमकाय व भीषण पर्वत-सा खड़ा है और इसके निर्माण संचरण में जो एक के बाद दूसरी नई नई विरोधी मान्यताओं का ताना-बाना बुना जा रहा है. इन सबके बरबस प्रचार-प्रसार से आक्रान्त, फिर भी कुछ भी पकड़ न पाकर यह दिशा-भ्रांत हुआ अपने सहज रूप के लिये आकुल-व्याकुल बेतहाशा भटक रहा है. टकराता है, टूटता है—यों इस विध्वंस का क्रम चल रहा है, और भौतिकवादी शक्तियां एकता, शांति तथा सुख के लिये तर्क-वितर्क कर रही हैं, किन्तु गहन पारस्परिक अविश्वास व भय के लिये क्रुद्ध एक दूसरे पर गुर्रा रही हैं, एटम व हाइड्रोजन जैसी घातक वस्तुओं का प्रयोग व परीक्षण कर रही हैं—इस प्रकार महा-युद्ध की नई संभावनाएँ पैदा की जा रही हैं। हम, मानवता कराह रही है, इस भौतिक युग में। छायावादी कवि विज्ञान द्वारा प्राप्त किये प्रकृति के इस सत्यस्व-रूप से हट प्रकृति के ही नैसर्गिक रूप, गति तथा विकास के लोक की सीमा-रेखा पर खड़ा हुआ उसके चिरंतन विलास की गाथा गा कर मानव को स्वर्णोदय का गांधीवादी सन्देश दे रहा है। धरती के संचरण की उद्दाम भावना लेकर इधर प्रगति-वाद की हुंकार उठी है पर गांधी की साधना का तप, जो छायावाद में रूप पाता हुआ मनुष्य के हृदय में मानवता की गोमुखी पुनः प्रवाहित कर रहा है, उस उद्दाम आवेशभरी भौतिक लिप्सा से आच्छन्न नहीं हुआ है। इस संक्रान्ति-काल के अंतर्गत छायावाद का स्वर नवभंगिमा व प्रेरणा लेकर अधिक स्पष्ट, सहज व मानवीय होता हुआ आज पुनः जनमन का संगठन करने मुखर सुन्दर हो रहा है। आज मानव जितना खुद को नगण्य समझने में तथा नीचे से नीचा उतरने में विवश पा रहा है, उतना ही आज का कवि उसे ऊपर उठने का—महत्त्व स्वयं अनुभव करने का उद्बोधन दे रहा है। 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' कवि पंत की जैसी निष्ठा लिए (स्व०) सुधीन्द्र का एक सरल व पूर्ण गीत- 'मिट्टी की कहानी' है—

जो न उतरे—किन्तु मिट्टी में रहे जो
एक उसने ही रहेगा प्यार सब का

जो तुम्हें मिट्टी सुनायेगी किसी दिन
थी यह बात मुझे मिट्टी की सुनानी
सुन चुके हो देवताओं की कहानी
सुन चुके हो तुम मनुष्यों की कहानी
मैं सुनाता आज मिट्टी की कहानी।

मिट्टी के इस गीत को गाकर कवि मिट्टी में स्वयं मिल ऊपर उठ कर अन्त में विलीन हो गया, उसकी कहानी शाश्वत रह गई।

आधुनिक युग की विराट् चेतना 'छायावाद' में ही ध्वनित हुई है, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद तो विदेशी विचार-मंथन में से फलित एक तो जीवन दृष्टि-कोण है और दूसरा कला-संगठन। 'छायावाद' स्वयं कला के क्षेत्र में एक प्रयोग रहा है छंद की नई नई भंगिमायें उसके संगीतमय मुक्तकों का शृङ्गार बनी है तथा अब भी उसकी रेखायें बंधकर निष्प्रभ व निष्प्राण नहीं हुई हैं और धरती के संचरण को समझने-बूझने की जो यथार्थ व रूढ़ि-मुक्त दृष्टि ऐतिहासिक भौतिकवाद दर्शन ने दी है, वह छायावाद द्वारा इतने ही अंश में अंगीकृत की गई है जहां तक वह मानव के बाह्य विकास के लिए सजगता व चेष्टा व्यक्त करता है, इस एकांगी दृष्टि से भी गहरा डूब कर छायावाद भारतीय चेतना के प्रतिफलन रूप 'अंतस् के ऊर्ध्व-संचरण' को अपना कर वस्तुतः युग की संपूर्ण लोकेच्छा का अभिनंदन करता है। इसलिये युग की इस प्रमुख धारा से चाहे कभी किसी भावोन्मुग्धता में वहना हो जाय भारतीय कवि विलग रह सके यह असंभव ही है।

यह कम विडम्बना की बात नहीं कि वैज्ञानिक आविष्कारों के सहारे आज का युग अनायास ही कई छोटी रेखाओं को पार कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की महत् कल्पना के भौतिक रूप से इतना नजदीक आने पर भी हृदय-पक्ष से शायद पहिले से भी बहुत दूर खडा है। इस स्थिति-वैषम्य से उलझन इतनी पैदा हो गई है कि जागृत बुद्धि भी पंगु व घातक हो चली है। आज के वृहत्तर विश्व-समाज का मकडी-जाल गुथा जा रहा है अनेक सीधी, आडी-टेढ़ी लकीरों से। खूब गहरी व भारी गुँथाई हो रही है और मानव का जीवन अविश्वास न भय से त्रस्त है। आज का जीवन प्रचार व दलवन्दी के हाथों में बन्दरी-लीला कर रहा है। प्रचार व दलवन्दी का अतुल बल व वैभव यह है कि एक झूठ भी स्वयं सिद्ध सत्यरूप में मान्य करा लिया जाता है। यों दिन प्रति दिन जड़ चेतन सम्बन्धी अनेक सत्यों का प्रतिपादन हो रहा है, जो आपस

में एक दूसरे का मेल नहीं खाते। जिसका प्रचार व दल-बल मजबूत है, वही व्यापक बन कर मनुष्य को खींच लिये जा रहा है—कहाँ ? और इस प्रश्न का उत्तर पाने न पाने के पहले ही दूसरी लहर आती है, वह बरबस उसके वेग में बहा लिया जाता है। ऐसे अनगिनत प्रचारित स्वयंसिद्ध सत्यों से छुटकारा कहाँ नहीं है, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और दार्शनिक सब ही पक्षों में प्रचार व दलबन्दी का महामन्त्र गूँज रहा है। साहित्य का क्षेत्र अछूता रहे, यह असम्भव तो नहीं होना चाहिए, पर सौभाग्य कहें कि दुर्भाग्य यह युग सम्भव-असम्भव को एक घाट पानी पिलाने की क्षमता रखता है। देखना यह पड़ रहा है कि साहित्य के निचले स्तर पर 'प्रचार व दलबन्दी' का जोर-शोर—जिसमें यदा-कदा ऊपर वाले भी ललक कर हाथ बँटा लेते हैं—दिखाई देता है। इसे इस युग की देन मान कर ही आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

गुलामी काल के अंतर्गत राजस्थान तो तिहरे शिकंजे में जकड़ा हुआ था वह इन युग सुलभ साधनों से बहुत कुछ वंचित ही रहा। फिर भी देश के विविध क्षेत्रों में जो कुछ भी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ हुई, उसका प्रभाव इस प्रान्त पर भी पड़ा है। प्रचार व दलबन्दी का दौर चला ही, फिर भी उसका स्वरूप इतना व्यापक नहीं था, अतः यहां परिणाम इतना बोलता हुआ नहीं रहा, बोला केवल शहरों के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में। इस प्रान्त में बाहर के कुछ साधन-उपभोगी नेता भेजे गये थे वे स्वहितरत प्रान्तीय जन-जीवन से ऊपर ही ऊपर 'हलचल' पैदा करने में उद्यमशील रहे और उनके इसी उद्यम में धीरे २ प्रचार और दलबन्दी पनपने लगी, व्यूह रचे गये, दाँव पेच हुए, लड़े झगड़े; फलतः टूटे बिखरे और बाहरी मन्त्रणा के प्रभाव से फिर जुड़े—ऐसा क्रम लिए इन दलों का अपना इतिहास है। उस धरती पर जहाँ जन-जीवन साँस ले रहा था, इनकी चेष्टाओं का बहुत कम स्पर्श हो सका। मैंने पहिले कहा है कि दूसरों के साथ ये लोक-नागर भी रहे, केवल 'पथिक' जैसे कर्मयोगी का चरण ही पग पग भूमि नाप सका था, उसका एक संकेत जन-जीवन को निर्भय आगे बढ़ाने की प्रेरणा दे सका था। पर 'पथिक' था वस्तुतः साधन हीन—और वैसा ही भाग्य इस प्रान्त के साहित्यकारों का था। यह जरूर है कि इस दुर्भाग्य की घड़ियों में यहां के कुछ साहित्य-सेवियों ने हिंदी साहित्यिक संस्थाओं का, जो अन्य प्रान्तों में संगठित हुई थी, भाग लिया तथा वे काफी महत्वपूर्ण काम करने में समर्थ हुए और जिसका ही इस प्रान्त में एक ओर बाहरी मदद से एक दो संस्थाएँ खड़ी की गईं, दूसरी ओर यहाँ के प्रवासी वासियों ने व्यक्तिगत तथा मिल-जुल कर सामूहिक प्रयत्न जारी रखे, यहाँ वहाँ

किया ही, यों भी कुछ काम हुआ; पर इन सब के बावजूद भी इस प्रान्त मे ऐसी कोई पीठिका न बन पाई कि इस विस्तृत क्षेत्र की नवोदित साहित्यिक शक्तियां वहाँ मुक्त रूप से जुट सकें, प्रेरणा पा सकें और साधना में लग सकें।

स्वतन्त्रता के बाद तो काफी रूप रंग बदला है इस प्रान्त का। राजनीतिक क्षेत्र में जो सीमा-रेखायें विलीन हुई हैं और जिस वेग व सहजता से, वह जन-जीवन के साधक के लिये आनन्द की बात है। लोक-नायकों के हाथ में शासन है और प्रान्त के विकास की धूम मची हुई है, भीतर-बाहर, जमीन-आसमान – सब जगह ये विधि-विधान से सम्पन्न हो रहा है पर जो कुछ विधि-विधान है और उनकी छाया में प्रगति का काम हो रहा है—उनके परे थोड़ा गहरे पानी पैठने पर क्या पाया जाता है? क्या इस ऊँचे शोरगुल में वही प्रचार व दलबन्दी का ककाल अट्टहास करता हुआ नहीं दिखाई देता? और क्षेत्रों के सम्बन्ध में मै यों नहीं कहना चाहूंगा क्योंकि एक तो अप्रासंगिक बात होगी, दूसरा उन पर कहने के अधिकारी और हैं; पर साहित्य क्षेत्र इन शासक लोक-नायकों के बड़े बड़े आश्वासन व गहन गहन निष्ठा से भरे उत्साह-वर्द्धक उद्‌गारों से गूँज रहा है और इन उद्‌गारों का वायवी-निवास सरस्वती देवी के लिए एक रमणीक क्रीड़ा-स्थली बन गई है।

इस वाचिक योग के द्वारा प्रान्त की धरती पर जैसे—समाजवाद-स्थापन, जमींदारी-उन्मूलन, यातायात-सुविधा, उद्योग-धन्धों का निर्माण, अस्पृश्यता-निवारण, शराब बन्दी, अनिवार्य शिक्षा, श्रम प्रतिष्ठा आदि समाज पुनर्सङ्गठन के क्रान्तिकारी प्रयोग सफलता वत् बताये हुए आँकड़ों में सूचित है, वैसे ही कला, साहित्य तथा संस्कृति का संरक्षण व संवर्धन स्वयंसिद्ध है। 'प्रचार व दलबन्दी' का महामन्त्र यहाँ फलीभूत हुआ, तो इन लोक-नायकों का सतत चेष्टा का ही वरदान समझना चाहिए। इससे उन्हें भूरि भूरि प्रशंसा व यशलाभ हुआ है, अत: वाचिक योग के प्रति उनकी निष्ठा और भी दृढ़ होती जा रही है। ऐसे प्रान्तोत्थान के समय अगर साहित्यकार फिर भी अपने को कर्त्तव्य-विमूढ़ पाये, निराधार माने और क्षुब्ध भटकता रहे तो वह शायद भाग्य दोष के अतिरिक्त और क्या है? इन मेरे साथी कवियों का ही दुर्भाग्य मान लिया जाय, पर वस्तु स्थिति यह है कि मुक्त-उदारता व मिष्ठ आश्वासन के बावजूद भी उन्हे भटकना पड़ रहा है उस पीठिका की नींव का पत्थर अब भी नहीं रखा जा सका है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति तथा लोक शासन का समारम्भ – ये सहज ही हर एक के मन मे जो आशा दीप जला गये थे, वह अब धीरे धीरे बिना-तेल बुझता जा

रहा है। जन जीवन के समान ही इनके साहित्यकार भी अपने हृदयाकाश पर अब धुँध को बढ़ती हुई पा रहे हैं और उनका क्षोभ स्वभावतया ही अधिक मर्म-स्पर्शी हो उठा है। 'सप्त किरण' की सम्पादकीय टिप्पणी में जो प्रवृत्ति रखी गई है वह उस मर्म पीड़ा का उच्छ्वास-मात्र है। वह बहुत स्पष्ट है, इसमें कल्पना तथा भावुकता से लिपटा कुछ नहीं है। कवि वचन की विशिष्ट भंगिमा में रहित वह नग्न, स्थितिगत तथा व्यवहारिक सत्य है:—'प्रकाशन संस्थाओं के अभाव में इस सामूहिक कार्य के लिए बार बार एक ही अवलम्ब नजर आता था पर इस अवलम्ब को जो लोग घेरे थे उन पर पहुँचने की गति इन गलियों को पार कर जाने की दिशा नहीं आती थी। यह अवलम्ब सरकार का था—वह सरकार जो इस प्रान्त पर सात वर्ष से शासन कर रही है। प्रतिवर्ष ही इस तरह लालसा लगी रहती कि शायद कुछ इस वर्ष और यदि इस वर्ष नहीं तो कदाचित दूसरे वर्ष, और यों ही वे रीते सात वर्ष व्यतीत हो गये। ··· यह (रचनाओं के प्रकाशन का) दायित्व उसका (सरकार का) था, परन्तु सरकार यह करने में समर्थ नहीं हो सकी। यह दायित्व उसका था, जो वह निभा नहीं सकी। यदि इस कार्य के लिए सरकार दूरदर्शी होती तो अभी तक प्रांत की साहित्यिक गति विधियों को प्रांतोपयोगी रचनाओं को अवश्य ही प्रकाशन मिल गया होता।' कहा जा सकता है कि यह सब दयनीय वृत्ति क्यों? मेरे कवि साथियों से यह नम्र मांग रही अपने लोक-नायकों के प्रति और आत्म सम्मान रहा अपने, तथा अपने सहगामियों के प्रति। मेरे कवियों ने अपनी निष्ठा व नम्रता से इन लोक-नायकों को जांच लिया और वे फिर बहुत बहुत बाट जोह कर, अपने पथ पर लग गये। 'सप्त-किरण' सचमुच एक दिशा है एक घटना है, जो अपने में इस युग के यथार्थ को तथा भावी की सम्भावनाओं को छिपाये हुए है। यह वह प्रयास है जो बिना बृहत् आयोजन की धूमधाम के एक विशाल पीढ़ी की नींव रखने जा रहा है।

कौन कहां से चला, कैसी प्रेरणा लेकर यहाँ से बोल उठा—ये बातें जानने की नहीं हैं पर जो इनसे भी महत्वपूर्ण है वह यह है कि अपने अपने स्थान से चलकर वे अनायास एक जगह मिले वहाँ सप्त-किरण रूप प्रथम-सोपान मजबूत गाड़ दिया गया। इन कवि-साथियों के संसर्ग से जो कुछ ज्ञान सका हूँ, उसके आधार पर यह कह सकता हूँ कि कुछ मन की ऐंठ गलियों, कठोर चट्टानों तथा समुद्र तट के सौन्दर्य पूर्ण लोक से विमुग्ध गान गाते हुए, कुछ ... के ... की भाव-माधुरी में मस्त व सधे आलाप भरते हुए, कुछ ...

राजनैतिक आन्दोलन की किसी एक या अधिक किरण से प्रदीप्त होकर नव जागरण का संदेश देते हुए और कुछ यौवन की उत्ताल प्रेम लहरियो में झूम झूम क्रीडा करते हुए इस प्रान्त के विशाल प्रांगण में उतर पड़े थे। राह भिन्न है, राग भिन्न है, साज सामान भिन्न है, पर ज्यों ज्यों जन-जीवन के समीप आते गये हैं, त्यों त्यों राजस्थान की मूल चेतना सबके स्वर-विन्यास में समान रूप से प्रति-भासित होने लगी है। ये कवि रूप-यौवन की उठान के भोक्ता हैं, इसलिये उनके हृदय का तार हर स्पंदन से झंकृत हो जाता हो, वह अस्वाभाविक नहीं। मैंने इस युग के भौतिक संचरण की बात थोड़ी देर पहिले कही है। ऐसा भी माना है कि इन अतुल उपलब्धियों के परिणाम-स्वरूप नित नया रूप धारण करने वाला भौतिक दर्शन भी बनता जा रहा है और उसका प्रभाव साहित्य पर विशेषकर पाश्चात्य साहित्य पर बहुत पड़ा है। भारत का साहित्य अछूता नहीं रहा है और वैसे रहना भी नहीं चाहिए, क्योंकि नये विचारों का ग्रहण जाति के लिये आवश्यक है, पर यह ग्रहण होना चाहिए समझ-बूझ कर ही। राजस्थान के ये अल्हड़ कवि भी नये विचारों की ओर प्रवृत्त तथा काव्य के नव-रूपो के प्रति आकर्षित हुए हैं। फिर भी, इस धरती की चेतना में जो महत् था, उसके सहारे वे कहीं एक के विमोह में नहीं पड़े। इसलिये राह भिन्न, राग भिन्न, साज सामान भिन्न अपनाकर तथा उसे अपने व्यक्तित्व के अनुरूप सँवारकर भी मूलतः वे एक ही भूमि पर खड़े हैं। मुझे हर्ष और साथ ही गर्व इस बात का है कि वे अपने प्रति सजग हैं, ईमानदार हैं। वे न प्रतिनिधित्व का दावा करते हैं और न ऐसा मानते हैं कि उनकी ये संग्रहीत रचनाएँ पूर्ण हैं। बड़ी सच्चाई से सम्पादकीय टिप्पणी यह घोषित करती है:—जिन कवियों की ये कवितायें हैं उनमें कोई आयु की उस परिपक्वता पर नहीं पहुँचा है कि जब शैली बन चुकी होती है या विवेक उठ उठ कर हाथ पकड़ लेता हो इसलिये एक ही कवि की दस कविताओं में और इस तरह सब कवियो की सभी कविताओं में विविध अनुभूतियो के प्रिय एवं अनेक परिवेश धारण करने वाले शिल्प का प्राचुर्य है। किसी वाद के साथ कुछ भी बँधा नहीं है, किसी शिल्प के साथ कोई मोह नहीं है शायद बहुत कमनी-यता भी नही, पर जो कुछ है, सबका अपना है और सब जगह अपना है।' यह काफी स्पष्ट तथा वजनदार कथन है। 'जो कुछ है सबका अपना है और सबजगह अपना है।'—यह छोटी बात दीखती है, पर इस छोटी की सिद्धि जहाँ हो गई वहीं महत् का समर्पण है। आज का मानव जो एक के ऊपर दूसरा परिधान धारण करता जा रहा है -ऊँचे से ऊँचा होने के लिये राम-लीला के रावण-सा

विराट्; वह यह भूल जाता है कि इस अम्बार-वेष्ठन के होते हुए भी उसका व्यक्तित्व कितनी लघुता में गला जा रहा है। और धरती पर खड़ा मानवी वेश धारण किये एक तुच्छ मानव की एक ही ललकार में उसका 'स्व' अपनी सारी विराटता को लिये धूलमय होने वाला है। इस लघुत्व के रहस्य को कवि जान जाय तो इसे और जानना सहज व सुलभ हो जाता है। 'मन-किरन' के कविगण, यह शुभ ही है, किसी परिपाटी पालन की न लिप्सा तथा न शिष्टता में लिपटे रह गये हैं। वे मधु-मक्खियों की तरह फूल फूल के समीप गये हैं व लीनता में लीन हुए हैं और अपने ही छत्ते में आकर इस दान-व्यापार में लग गये हैं। मैं यह जानता हूँ तथा बुरा मानता हूँ और मुझे विश्वास है ऐसा ही मेरे कवि साथी जानते तथा मानते हैं कि बीस सवारों में नाम करना तब ही सम्भव होता है जब चालू परिपाटी को पूरे जोश के साथ अपना लिया जाय और मन मार कर सभी सज्जा में बाहर निकला जाय। दुर्भाग्य की बात है कि साहित्य-प्रांगण में जहाँ वहाँ पहिले भी और विशेष रूप से आज इस बौद्धिक युग में ऐसा [illegible] खुल कर किया जा रहा है। छायावाद से लेकर प्रयोगवाद की रंगभूमि पर ये पात्र देखे जा सकते हैं। इस अभिनयाभास से व्याकुल होकर ही [illegible] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "काव्य में रहस्यवाद" शीर्षक विस्तृत लेख लिखा था। मेरे कविगण एक विशेष परिपाटी-लिप्सा से मुक्त रह कर तथा [illegible] हीन होकर भी विश्वस्त हैं। वे सूत कात रहे हैं, निष्ठा व [illegible] के साथ और यों धीरे धीरे इस क्रम में सूत महीन भी होता जा रहा है [illegible] विजातीय पदार्थ से रहित होकर निर्मल भी। वे सूत कात रहे हैं, [illegible], इसी में सब ही का मंगल है। मिल का सूत बाजार पाता है, पाये, उसमें किसका मंगल है?

एक बात यहाँ कह देना ठीक समझता हूँ, जो पहिले [illegible] और अब भी उसकी टीस बची न हो सो बात नहीं है। 'मन-किरन' [illegible] में जहाँ किरन का प्रसार है वहाँ मन की एक सीमा भी है और [illegible] कारण राजस्थान के कुछ अन्य प्रतिभावान कलाकारों को मैं [illegible] पा रहा हूँ। यह संपादन एक योजना नहीं, [illegible] गगन में से फूटी किरणों में से कौन सी चुनी जाय, इस चुनाव का [illegible] हो यादि योजना स्वयं प्रश्न [illegible] देते हैं पर फिर भी [illegible] उलझने पैदा करते हैं। [illegible] भी इन [illegible] हो तो भी बहुत बार हो [illegible]

दिशा, एक घटना बन पाई, स्थिति का तकाजा शायद यही था और कुछ कवि-साथी साथ नहीं है, तो इसलिये नहीं कि उनमें प्रतिभा नहीं, साधना नहीं पर यों कि इस बढ़ने में जो एक स्थान पर आ मिले बस वे इस घटना के संगठन में जुट गये। आगामी किसी शुभ पर्व में वे अन्य साथी संगठित हों और सप्त-किरण का दूसरा भाग हमारे सामने आये—ऐसी हम सब की उत्कंठा है और तब ही हमारे दिल में की यह टीस भी उस सफल आशा के आनंद में तिरोहित हो सकेगी।

आज तो मेरे आसपास ये छ: कवि (स्व० सुधीन्द्र के अतिरिक्त) हैं। इनके आत्मभाव से खिंच कर इस सप्त-किरण की भूमि पर मैं खड़ा हूँ और इनके आदेशानुसार कहने की आजादी पा रहा हूँ। कहने को तो बहुत कुछ कह गया हूँ और अनर्गल भी, पर इस में जो कुछ तर्कपूर्ण है वह सिर्फ इन कवियों के साथ रहने व बढ़ने के फलरूप ही है। यह नहीं कि इसमें अपने निजी अध्ययन व अनुभूति का लगाव न हो और यह भी नहीं कि प्रांतीय तथा अन्य काव्यकारों की अमृत वाणियों का प्रभाव न हो, फिर भी विशेषरूप से मेरे सम्मुख सप्त किरण के कवि ही रहे हैं। इनकी ही स्वरलहरी पर मेरी नौका तरती तरती साहित्य तथा समाज की और काव्य के अंतस् व बाह्य रूप के वैभव की झाँकी पा सकी है। इस विवेचना के आरंभ के दो खंडों में ऐसा ही प्रयत्न परिलक्षित होगा और निष्कर्ष रूप मैंने वहाँ यह निवेदन किया है कि इनकी वाणी भी नई जिन्दगी के नये तराने गाने लगी है और स्थानीय रंग धीरे धीरे उभर रहा है, इस कारण इनकी स्वरसज्जा में मोहक ताजगी व आभा गुंफित होती जा रही है। श्री पथिक के पथ व स्वर को अखंड बनानेवाले कला-साधकों में स्व० सुधीन्द्र अग्रीवाण हैं और वे भी धन्य हैं कि उनके पीछे एक प्राणवंत व निर्भीक टोली कदम से कदम मिलाये बढ़ी चली आ रही है। इन सबके हृदय में, मूलतः, एक भीषण ज्वार बसा हुआ है और उन भावावेगों में एक मस्ती एक उमंग तथा उत्फुल्लता है जो कल्पना के स्वर्णिम किरणों में लिपट कर भी लिपटी नहीं रहना चाहती तथा वाणी के प्रसाधनों का आधार लेकर भी स्वच्छंद व निर्बाध व्यक्त होना चाहती है। इसलिये तरुण कवियों में छंद, अलंकार का शिल्प-विन्यास विकसित न भी हो, पर यह जरूर है कि उनमें वैयक्तिक उद्दाम आवेगों की श्रमहीन पर वेगवान् अभिव्यक्ति हुई है। जैसे उनकी भावधारा उच्छृल व निर्बंध है वैसी ही उसकी अभिव्यंजना बरसाती नदी-सी उबलकर नई राहें तथा नई सीमाएँ निर्माण करती हुई प्रतीत होती है। सशक्त व सवेग होने से ही उस

कर्म की अपनी दीप्ति है। यही वैशिष्ट्य विशेषतः श्री प्रकाश आतुर, श्री ज्ञान भारिल्ल और अब संयतरूप से श्री नंद चतुर्वेदी व श्री कमलाकर में मिल जाता है; और जब उसी भावावेश के अंतर्गत चिंतन का [illegible] गहन होता है, भाव में निगूढ़ता व्याप्त होती है, उसकी अभिव्यक्ति गीत के प्रसाधनों से संचित हो जाती है। सप्त-किरण के कुछ कवि तो कल्पना, अनुभूति तथा चिन्तन के [illegible] में धीरे धीरे अपनी सतत साधना द्वारा साम्य स्थापित करते जा रहे हैं। श्री कमलाकर, श्री नंद चतुर्वेदी तथा श्री कुलिश में ऐसा परिलक्षित होता है और श्री सेठिया की यह क्षमता काफी उभर चली है। 'फूल खिल [illegible], शूल मौन है!' एक सुन्दर व पूर्ण गीत है मानो किसी परिपूर्ण [illegible] से ही [illegible] रस विभोर होकर स्वर भर उठा हो, गीत के शब्द शब्द का नियोजन इस सहजता व सरलता से हुआ है कि ध्वनि से चित्र और चित्र में भाव अनायास ही [illegible] हो जाते हैं। इस गीत का बंध-विधान अपूर्व है। ऐसा गीत [illegible], [illegible], तथा अभ्यास की देन नहीं होता है, इन सबके भीतर जब किसी [illegible] में चिन्तन निगूढ़ हो जाता है, तब यह आयासहीन ही रूप धारण कर लेता है। 'सप्त-किरण' के कवि युग-चेता हैं और [illegible] ही साधना में लगे हैं। इसीलिए नवोदित कवि श्री ज्ञान भारिल्ल, जो रूप-[illegible] के [illegible] हैं, [illegible] रचना 'लकीरें' मुझे विस्मय में नहीं डाल गई। अतः अन्य कवियों के [illegible] में एक-दो गीत ऐसी ही शिल्प-सृष्टि की दीप्ति लिए मिल जाते हैं। ये गीत—(१) [illegible] होता जा रहा, (२) प्यार कहाँ है, (३) [illegible] की चाँदनी की [illegible], (४) मैं [illegible] किसी के प्राणों में (५) नई पौध तथा (६) ये गीत [illegible]! [illegible] चाहिए। यों देखा जाय तो ये कवि अपने प्रान्त की धरती के रूप के तथा उसके विरूप के भी और उसकी सहज-उत्फुल्ल-[illegible] के तथा उसकी [illegible] वृत्ति के भी द्रष्टा हैं, और यह होना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है; पर ये अपनी धरती के हृदय में एकात्म पावें ऐसा [illegible] विशेष महत्त्वपूर्ण होगा, जहाँ [illegible] भाव व भाषा का व्यवधान नहीं रहता। भाव की [illegible] से ही भाषा का साज निर्मित होता है नव नव रूप लिए! भाषा की [illegible], [illegible] चित्रोपमता ध्वन्यात्मकता तथा [illegible] सब उसके [illegible] में [illegible] तथा ऐसे विकास में संवेदन की अपूर्व शक्ति [illegible] हो जाती है। [illegible] मिट्टी के पट बनाये जा रहे हैं, उन पर [illegible] की रेखाएँ भी [illegible] जा रही हैं—ये मानवात्मा के अमृत से परिपूर्ण [illegible] मंगल-घट [illegible] के लिए क्यों न [illegible] पैठेगा, उस आत्म-तत्त्व को [illegible]—[illegible]

कठिन तो है ही, सरल हो तो भी ऐसा कहना, निर्देश करना आज भविष्य-वाणीवत् दम्भोक्ति मात्र समझा जायगा। वांछनीय है यह बस, और ईशोपनिषद् बल देता है ऐसी आशा को :

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर् मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥'

अर्थात्—वह उस तेजस्वी, देह रहित, अतएव व्रणादि देह-दोषों से और स्नायु आदि देहगुणो से सर्वथा अलिप्त, शुद्ध और पाप-बेधमुक्त, ऐसे आत्मतत्व को चारों ओर से घेरकर बैठ गया। वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी, वशी, व्यापक और स्वतन्त्र हो गया। उसने शाश्वतकाल तक टिकनेवाले सर्व अर्थ यथावत् साध लिये। अतः मैं कवि-साथियों से इतना भर चाहता हूँ कि वे कबीर के समान अपने कर्म के प्रति निष्ठावान बने रहे :

आठहूँ पहर मस्ताना रहै
आठहूँ पहर की छाक पीवै।
कहै कबीर कोई सन्त जन सूरमा
काल निचोड़ि कै अमृत पीवै ॥

सोच नहीं पा रहा हूँ कि 'सप्त-किरण' की इस भूमि पर स्थान पाकर मेरा धर्म इसके अतिरिक्त और क्या है कि इन कवि साथियों की वाणी के उच्छल आनन्द का उपभोग करता रहूँ; पर कुछ कहने का आदेश मुझे मिला तो और कुछ अर्थ की बात इस कथन में बन पड़ी हो या नहीं, अगर मैं इसके द्वारा उनकी—साधना-भूमि की पृष्ठभूमि तथा वातावरण प्रस्तुत करने में सफल हुआ हूँ तो भी मुझे संतोष होगा।

अन्त में, मेरे कवि साथियों के साथ मैं भी स्व० सुधीन्द्र को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

गवर्नमेण्ट कॉलेज
अजमेर
ज्येष्ठी पूर्णिमा : कबीर-जयंती

—विष्णु अम्बालाल जोशी

———

## कमलाकर

### दस कविताएँ

१ मेरी स्वर लहरी का अन्चल
२ वह सावन का दिन भी ........ ।
३ मुझे तुम मिले .............
४ दूर होता जा रहा संसार
५ अंजली
६ चांदनी का चांद
७ जिन्दगी चलती न गीतों के सहारे
८ नया फूली
९ एक गज़ल
१० पालिश वाला (प्रोसेन)

# — मेरी स्वरलहरी का अंचल —



मेरी स्वरलहरी का अंचल फहरायेगा,
धरती, अंबर पर, सागर पर, लहरायेगा।
धरती पर मेरा प्यार खेलता धूम भरा,
है धरती में रहता मेरा निशान हरा,
धरती पर मेरा प्राण करोड़ों तन में है,
मेरे सपनों का सत्य धरा के मन में है,
रस लहराता मेरा धरती की नस-नस में,
मेरा जीवन कण-कण को सुमन बनायेगा।
मेरी स्वरलहरी का अंचल फहरायेगा,
धरती, अंबर पर, सागर पर, लहरायेगा।
अम्बर में मेरी नित्य कामनाएँ जलतीं,
मेरी कमियाँ सतरंगी झूले में पलतीं,
अम्बर में छाया मेरे मन का सूनापन,
रोप लाल-पीला मेरा मुस्कान-रुदन,
भरे हृदय-सा उमड़-घुमड़ मेरा जीवन,
बूंद बूंद कर बादल-सा झर जायेगा।
मेरी स्वरलहरी का अंचल फहरायेगा,
धरती, अंबर पर, सागर पर, लहरायेगा।
मेरे भावों की गहराई सागर का तल,
लहरों में नचती है मेरी कामना चपल,
सागर में आकांक्षाएं चाँद चूम लेतीं,
सीमाएं मन पर की सागर को छूट देतीं,
मेरे अभाव की ज्वाला के बड़वानल से,
सागर का भी अंतस्तल जल-जल जायेगा।
मेरी स्वरलहरी का अंचल फहरायेगा,
धरती, अंबर पर, सागर पर, लहरायेगा।

# सावन का गीत



यह सावन का दिन भी जैसे रात रे !

तृषित-पुतलियां बन कजरारी घटा कि नभ पर छा रहीं,
सुधा सांवरी चुनरी पहने भरे कलश ढलका रही,
पर आंसू से दिल की आग न बुझ पाती,
बादल की बाहों में जलता है बिजली का गात रे !
यह सावन का दिन भी जैसे रात रे !

धरा-गगन के युगल तार पर रिम-झिम का संगीत है,
प्राणों की मुरली पर मचली 'प्रिय' पुकारती प्रीत है,
पल्लव-सा मन तड़प, पवन में डोलता,
उमड़-घुमड़ कर अधरों पर आ जाती उर की बात रे !
यह सावन का दिन भी जैसे रात रे !

इन्द्रधनुष के सतरंगे झूले पर सपने झूलते,
हरियाली में मिट्टी के अरमान रंगीले फूलते,
नचते मोरों के पंखों की कसमस सी—
वर्षा की दुलहिन को मेरे गीतों की सौगात रे !
यह सावन का दिन भी जैसे रात रे !



# मुझे तुम मिले प्राण के प्राण !



मुझे तुम मिले प्राण के प्राण ! जैसे, भटकती लहर को किनारा मिला ।

मिलन–चाह ले सूम–धन सी हृदय में,
कई कल्प बीते मुझे राह चलते ।
बढ़ा जा रहा एक अनजान–सा मैं,
मरण जन्म की घाटियों से निकलते ।
थकी आश के जब चरण डगमगाये,
मुझे स्नेह–संबल तुम्हारा मिला ।

खुले चेतना के पलक जिस उषा में,
तभी से तुम्हें दृष्टि ने दूर पाया ।
कि तब से कई बार जीवन–पिकी ने,
सिसकते स्वरों में विरह–गान गाया ।
मिले तुम विरह–सिन्धु में डूबते को,
खुली बाहुओं का सहारा मिला ।

मिले तुम हुए सत्य सपने युगों के,
सतत साधना ने चरम लक्ष्य पाया ।
जगे भाग्य की धन्य मुस्कान लेकर,
पुलक पुतलियों का क्षितिज मुस्कुराया ।
कि शृंगार बन कल्पना के परों को,
मिले तुम गगन का सितारा मिला ।

# दूर होता जा रहा संसार जैसे



दूर-होता जा रहा संसार जैसे, तुम हृदय के पास आते जा रहे हो।

खुल रहा घूंघट गगन की नीलिमा का,
बोलता-सा हास नीरव तारिका का,
मूंद सुख-दुख के दृगों को सो रही दुनिया,
सो रही दुनिया कि नीलम की कमलिनी सी,
नींद में बेहोश जैसे हो रही दुनिया,
किरण से उर-बीन पर तुम राग बन बिखरे, छेड़ते सपने जगाते आ रहे हो,
दूर होता जा रहा संसार जैसे, तुम हृदय के पास आते जा रहे हो।

उतरते नभ से मधुर मनुहार से तुम,
बांधते मन को गहनतम प्यार से तुम,
कौन तुम अनजान से अनुमान से आए,
कौन तुम पहचान से, महमान से आए,
कि आज झांका चांद पहली बार प्याले में,
आ रही मस्ती अंधेरे से उजाले में,
होश की नैया रजत-पतवार से तुम, पार करने को डुबाने जा रहे हो,
दूर होता जा रहा संसार जैसे, तुम हृदय के पास आते जा रहे हो।



# — अंजली —



हे स्वेद कणों से शृंगारित श्रम की देवी !
मेरे गीतों की अंजलि तुम्हें समर्पित है ।

जग हार गया लक्ष्मी का कर-कर आवाहन,
वह नचती रही महल में वार वधू ही बन ।
पूंजी की परी तिजोरी की बन्दिनि बाला,
जो धनिकों के संकेतों पर भरती प्याला ।
मेरे छन्दों के द्वार खोलने में झिझकी,
स्वर की धरती पर कैसे आय ? कलंकित है ।
हे स्वेद कणों से शृंगारित श्रम की देवी !
मेरे गीतों की अंजलि तुम्हें समर्पित है ।

रे पूजनीय वे बाहु तोड़ते जो पत्थर,
जो सड़क कूटते, बांध बनाते मेहनत कर ।
रे वन्दनीय वे हाथ कि जो हैं धूल सने,
उपजाते मिट्टी में से जो धन-धान्य घने ।
कपड़ा बुनती बुनकर की अंगुलियो तुमको,
मेरी वीणा की सब रागिनियां अर्पित हैं ।
हे स्वेद कणों से शृंगारित श्रम की देवी !
मेरे गीतों की अंजलि तुम्हें समर्पित है ।

श्रम की गंगे ! आशा के तट छूती आओ,
तुम खेतों में फसलों की धुन गाती आओ ।
चढते कदमों के लिए मचलती मंजिल सी,
गाती रचना के गीत कलों की हलचल सी ।
आओ ! सपनों को तुम स्वरूप देती आओ,
मम रोम-रोम मीठे सपनों से स्पन्दित है ।

# — चांदनी का चांद —



चांदनी में मुसकराता चांद मेरे पास !

जग रहा है रूप सोई मौन आधी रात,
स्वप्न में कंपती अधर पर कौन मीठी बात ?
मुक्त बाहों से वंधे से आश औ विश्वास,
चांदनी में मुसकराता चांद मेरे पास !

नींद में डूबी दिशाएँ तैरते तारे,
सो रहे महि के शिथिल अवयव थके हारे,
ऊंघता गिरता मदिर चुप चल रहा वातास,
चांदनी में मुसकराता चांद मेरे पास !

लो प्रतीची के अधर पर झुका चन्द्रानन,
छांह पलती तम-किशोरी का जगा यौवन,
सोचता क्या ओंठ पर अगुली धरे आकाश,
चांदनी में मुसकराता चांद मेरे पास !



# – जिन्दगी चलती न गीतों के सहारे –



गा रहा हूँ मैं कि आँसू आ न जायें,
जिन्दगी चलती न गीतों के सहारे।

हैं अभावों से भरा संसार मेरा,
इसलिए पीड़ा कसक से प्यार मेरा।

प्यार करता हूँ कि कर पाता नहीं कुछ,
सामने सागर लहरता आँसुओं का।

नाव कागज की न पर लगती किनारे,
गा रहा हूँ मैं कि आँसू आ न जायें,
जिन्दगी चलती न गीतों के सहारे।

अवनि की मुस्कान जैसे रो रही है।
सुरभि साँसें आँधियों में खो रही है।

नाम की बरसात गिरती बिजलियाँ हैं।
गरजते नभ में भरे काले कृपण-घन,
तड़पती नीचे पपीहों की पुकारें,

गा रहा हूँ मैं कि आँसू आ न जायें,
जिन्दगी चलती न गीतों के सहारे।



# – नभ-निकुंज में संध्या फूली –



छाया सौरभ के पर चंचल,
रंग-बिरंगे-घन, तितली-दल,
फाग खेलती-सी उड़ती है नव पराग-रज सी गोधूली,
नभ-निकुञ्ज में संध्या फूली ।

श्रमिक-कंठ-झरते मधु-निर्झर,
गूंजे नीड़ों में आतुर-स्वर,
प्रत्याशित शिशु-मुख-मे मुख दे, तरु-फुनगी पर विहगी झूली,
नभ-निकुञ्ज में संध्या फूली ।

जग-द्रुम की पल्लव-अंगुलियां,
कर में ले हंस चूम रश्मियां,
कल मिलने की मधुर-आस में आज विरह की पीड़ा भूली,
नभ-निकुञ्ज में संध्या फूली ।



## — गजल —



चिता की राख में कलियां खिलाये जिन्दगी मेरी।
कि हर सूखे अधर पर खिल-खिलाये जिन्दगी मेरी।

जगत की सब व्यथाएँ डूब जायें गहन वाड़व वन,
सुधा के सिन्धु-सी लहराये गाये जिन्दगी मेरी।

अन्धेरा दृष्टि से, दिल से, दिमागों से निकल जाये
नई स्वर्गिक किरण बन मुस्कुराये जिन्दगी मेरी।

कि हरएक बात मेरी सब के दिल की एक धड़कन हो,
सितारे उर के तारों को बनाये जिन्दगी मेरी।

सभी बढ़ते कदम मेरे छलकते प्यार के काबिल,
कि पथ पर दूब सी पलकें बिछाये जिन्दगी मेरी।

झुकूं मैं विश्व की गिरती उम्मीदें चूम लेने को,
बुझे विश्वास को फिर से जगाये जिन्दगी मेरी।

बदल दे लू की लपटों को मधुर सावन की रिमझिम में,
उमड़ बरसे, घिरे, कुछ कर दिखाये जिन्दगी मेरी।

हूँ खिलता मुस्कुराता और गाता हूँ सदा ही मैं,
कि इक दिन मौत को बेबस नचाए जिन्दगी मेरी।



# — पालिशवाला —



पालिश वाला
छोटा बच्चा
कितना अच्छा ?
छोटी सी 'पेरट' की डिब्बी
गंजा ब्रश
बस इतनी सी ही
छोटी पालिश की दुकान को
लिये जेब में डोला करता
छोटे मुंह से
बड़ी अदा से बोला करता
'पालिशवाला' पालिशवाला'
रामदेव 'श्री रामदेव'
जो नहीं किसी भी ईश्वर से
कम हैं रत्ती भर
इसके हैं कुल-देव
मूर्ति चांदी की, अपने रामदेव की
काले से डोरे में बांधे
लटका कर सीने के ऊपर
निर्भय हो चला जाता है
पालिशवाला।
तांगे मोटर और बाईसिकलों से बचता
बहते पथ में
कदम-कदम पर
एक मधुर सी आशा ले
आने जाने वालों के जूतों की
ओर निहारा करता
टुकर-टुकर कर
जैसे इसका प्यार सिमिट कर
मानव के चरणों की गति में
नई चमक लाने वाला हो
पास नहीं है टाट
बैठने को
लेकिन है बिछा हुआ धरती
का आंचल
ग्राहक के मिलते ही झटपट
पलक मारते
निक्कर की दोनों जेबों से
आकर सज जाती दुकान बाहर
पालिश की
खुली सड़क पर
बड़े मजे से बैठ धूल में
नन्हें-नन्हें हाथों में जूता लेकर
हिला-हिला गर्दन को गद्गद
जैसे खिला रहा हो शिशु को
बड़े प्यार से लिये गोद में
लगा लगा पालिश
घिस-घिस कर
चमकाया करता मानव के
चरणों के रक्षक
चमड़े को।

मटमैली कमीज की बाहों से
फिर अच्छी तरह पोंछ कर
पहना देता है बाबू के पद-पद्मों में
और बढ़ा देता निज गंदी
म्लान हथेली
पाने को बस खरी मजूरी के
दो पैसे।
दो पैसे में मुर्दे चमड़े को
सजीव सा कर देता है
पालिशवाला।
किन्तु हाय दो दो पैसों में
पापी पेट नहीं भर पाता
और दिनों दिन
बेपढ़-दीन-दरिद्री-दुर्बल
खुद निर्जीव बना जाता है
आधा भूखा
आधा नंगा
यह बेचारा पालिशवाला।



## कुलिश के ग्यारह गीत

# कौन हँसी मेरे नयनों में ?



*ऊषा-सी मुस्का देती है, सन्ध्या-सी सकुचाती,*
*और अमावस-सी घुल जाती, पूनम-सी खिल जाती।*
*यौवन-वन की मधु ऋतु बनकर कौन हँसी मेरे नयनों में ?*

*रजनी-सी अलकों में जड़कर ताराओं से मोती,*
*चन्द्रमुखी मेरी पलकों पर सपने नये संजोती।*
*वयस-सन्धि की विकल वासना कौन बनी मेरे नयनों में ?*

*जागृति-सी बेचैन बनाकर, निद्रा-सी बिरमाती,*
*सपनों-सी सहला-सहला कर, करवट-सी बहलाती।*
*अंगड़ाई लेती पीड़ा-सी कौन पली मेरे नयनों में ?*

*मीठी लगती मधुर याद सी, भूलों-सी भरमाती,*
*और पहेली-सी मेरे मन-प्राणों को उलझाती।*
*कुसुम बाण की अणी-बनी-सी कौन चुभी मेरे नयनों में ?*



# – मैं 'पीहू-पीहू' पागल पपीहरा की पुकार –



मैं जल बादल में बनकर तड़प समाई।
मैं सीपी की प्यासी पलकों पर छाई।
मेरी दुर्बलता जब अपने घर आई।
तो आसमान की भी आँखें भर आई।
मैं मरु का अन्तस चीर शून्य के हुई पास ॥

जल भरी घटायें आसमान में छाती।
जो इस दरिद्र जग को निहाल कर जाती।
जो खोल झोलियां मोती भरी लुटाती।
पर एक बूंद के लिये मुझे तरसाती।
मैं पीकर अपनी प्यास बनी पीयूष-धार।
मैं 'पीहू-पीहू' पागल पपीहरा की पुकार ॥



# — छोटा जीवन और लम्बा साथ —



देखो ! शलभों की मनमानी,
अन चाहे अगणित उड़ आते।
जल जाते अपनी ज्वाला में,
मेरा साथ नहीं वे पाते ॥
जल जाना आसान मगर नित जलते जाना बहुत कठिन है।
छोटे से जीवन में लम्बा साथ निभाना बहुत कठिन है ॥

निर्झर की कल कल को सुनकर,
पड़ जाते पत्थर प्रवाह में।
धुनते शीश पिछड़ जाते हैं,
जीवन की अटपटी राह में।
गानों के बल पर प्राणों का दाव लगाना बहुत कठिन है।
छोटे से जीवन में लम्बा साथ निभाना बहुत कठिन है ॥

जाने क्यों नयनों के नभ में,
उग आते सपनों के तारे ?
छूने से पहिले मिट जाते,
देकर कुछ आंसू कण खारे।
नमकीले पानी से उर के घाव मिटाना बहुत कठिन है।
छोटे से जीवन में लम्बा साथ निभाना बहुत कठिन है ॥

---

# मत छेड़ो ! ऊषे.................. !



मत छेड़ो ! ऊषे ! यह सुहाग की रात बड़ी हो जाने दो ।

देखो तो ! नयन अभी नयनों में झांक रहे,
मादकता अपनी अधर-अधर पर आंक रहे ।
खुलना न चाहते कलियों के भुजपाश अभी,
भौंरें मधु-कारा से न मुक्ति को ताक रहे ।
झुक पड़ती हैं पलकें खुमार के भार तनिक लग जाने दो ।
मत छेड़ो ! ऊषे ! यह सुहाग की रात बड़ी हो जाने दो ॥

यह रात, पर्व यौवन का, प्राणों का मेला,
देखो ! न बीत जाये बातों से मधु वेला ।
चल रहा पिपासा और तृप्ति का वेग विकल,
खुलकर अनंग ने फाग उमंगों से खेला ।
कुछ पल तो मन की साधों को छक कर बेसुध हो जाने दो ।
मत छेड़ो ! ऊषे ! यह सुहाग की रात बड़ी हो जाने दो ।

मत हंसो ! जागरण का रहस्य खुल जायेगा ।
नस-नस में लज्जा का अबीर घुल जायेगा ।
मत मारो पिचकारी सोने के पानी की,
यह सपनों का सुरमई रंग धुल जायेगा ।
तुम आज किरण-किन्नरियों को कुछ देर लोरियां गाने दो ।
मत छेड़ो ! ऊषे ! यह सुहाग की रात बड़ी हो जाने दो ॥



## — प्यार कहाँ है ? —



हम तुम में प्यार नहीं तो प्यार कहां है ?

मैं हँस दूँ सब दिशा सुहागिन हो जाती हैं,
तुम मुस्का दो कली फूल सब बन जाती हैं।
तुम ऊषा ! मैं भोर सुनहला,
हम तुम में शृंगार नहीं, शृंगार कहां है ?

मेरे मानस की हिलोर है आग तुम्हारी,
तुम मुस्काती मुझ में जैसे सुधियां प्यारी।
मैं सागर तुम वाडव चञ्चल,
हम तुम में यदि ज्वार नही तो ज्वार कहां है ?

झूम उठे संसार तुम्हारे स्वर में गाकर,
नाच उठे मन-मोर तान में मेरी आकर।
तुम कविता, मैं ब्रह्म सहोदर,
हम तुम में यदि सार नही तो सार कहा है ?

कब से दोनों खेल रहे हैं आंख मिचौनी,
मिले न बिछुड़े कभी, बात कैसी अनहोनी।
मैं दिन हूँ. तुम रात रुपहली,
हम तुम में अभिसार नहीं, अभिसार कहां है ?

भूला, भटका, थका पथिक हूँ चिर उन्मन में,
मिलता कुछ विश्राम तुम्हारे आलिंगन में।
मैं जीवन तुम चिर निद्रा हो,
हम तुम में संसार नहीं, संसार कहां है ?
हम तुम में यदि प्यार नहीं तो प्यार कहां है ?

# मैं पागल मन का प्यार............ ।



मैं पागल मन का प्यार और तुम राजा रूप नगर के,
हम दूर दूर चल कर भी दोनों पन्थी एक डगर के ।

तुम तारों की आंखों में आंखें डाल डाल मुस्काते,
तुम बदली के घूंघट में झुक झुक, झांक झांक लुक जाते ।
मैं रात रात भर जाग जाग कर चुगता रहूँ अंगारे,
तुम दूर दूर रहकर भी मुझ जलते को और जलाते ।
मैं धरती का प्यासा चकोर, तुम चन्दा हो अम्बर के ॥

तुम तुम हो, मैं हूँ मैं, निमग्न दोनों अपने अपने में,
हम दोनों इतनी दूर, नहीं मिल पावेंगे सपने में ।
पर छिपा तुम्हारे उर में क्या मेरी जीवन-ज्वाला सा,
क्या मधुर तुम्हारे अमृत-सा मेरे पल पल तपने में ।
हम दो होकर भी एक, एक होकर भी हैं दो घर के ॥

मैं क्या बतलाऊँ बीत रही है क्या क्या मेरे जी पर,
मन मार मार रह जाता, तुम से मिलने की दूरी पर ।
रह-रह कर आता है जी में कुछ ऐसा-सा हो जाये,
मैं उड़ जाऊँ आकाश में कि तुम आ जाओ धरती पर ।
बन जायेंगे सब कुमुद-कुमुदिनी तारे जगर-मगर के ।
मैं पागल मन का प्यार और तुम राजा रूप नगर के ॥



# चलना है बस..................।



चलना है वस इसीलिये चलता जा रहा हूँ।

एक किसी की छींक रोक लेती है पथ को,
हिचकी अपनी ओर खींच लेती गति-रथ को।
रुकता-बढ़ता मंजिल को छलता जाता हूँ॥

कांटों के सिर उठे खिझा देते हैं मुझको,
कलियों के नत नयन रिझा लेते हैं मुझको।
इस मन की करतूत सभी सहता जाता हूँ॥

अपना कोई देख भूल जाता अपने को,
मान लिया करता सर्वस्व कभी सपने को।
अपना और पराया मैं न समझ पाता हूँ॥

सुख-दुख से भी आंख-मिचौनी मैंने खेली,
हँसना-रोना दोनों मुझको एक पहेली।
एक बुझाता और एक गढ़ता जाता हूँ॥
चलना है वस इसीलिये चलता जाता हूँ॥



# वासना से दूर जाऊँ तो जिऊँ कैसे ?



वासना से दूर जाऊँ तो जिऊं कैसे ?

सुन पिकी से प्यार की शहनाइयां,
गूँज उठती प्राण की अमराइयां।
फूट पड़ते गीत अधरों को सियूँ कैसे ?
वासना से दूर जाऊँ तो जिऊं कैसे ?

झूम कर झुक कर वसन्ती डालियां,
बांटती मद से छलकती प्यालियां।
आज साकी से लजाऊँ तो पिऊँ कैसे ?
वासना से दूर जाऊँ तो जिऊं कैसे ?



# पास आओ ! चाँद मेरे पास आओ !



मैं तुम्हारे पास रहना चाहता हूँ,
और मन की बात कहना चाहता हूँ।
प्यार का अँगार चुग बैठा अजाने,
पर जलन उसकी न सहना चाहता हूँ,
पास आओ ! मुझ जले को मत जलाओ।

दूर मुझ से क्या सभी से दूर हो तुम,
रूप के अभिमान में बस चूर हो तुम।
दीखता उर तो तुम्हारा भी जला-सा,
क्या न मिलने के लिये मजबूर हो तुम ?
पास आओ ! और मत अब दूर जाओ।
पास आओ ! चांद मेरे पास आओ !



## — प्रेम-पन्थी हूँ, मुझे दो रूप का पाथेय —



देखता हूँ घूमता चल चित्र-सा संसार,
किन्तु मेरी पुतलियों का शून्य चित्राधार।

चित्र धूमिल ले खड़े नीहार का आधार,
दृष्टि मेरी खोजती है ज्योति पारावार।

देख लेना चाहता साकार अपना ध्येय,
प्रेम-पन्थी हूँ, मुझे दो रूप का पाथेय।



# कब बुझेगी अचिर की चिर प्यास मेरी ?



पी गया कितनी पयोधर गागरों को,
कर चुका रीते अधर के सागरों को।

सह सका कोई न तप्त उसास मेरी।
कब बुझेगी अचिर की चिर प्यास मेरी ?

एक पल को चाह ने चाहा उजाला,
और घर के दीप से घर फूँक डाला।

व्योम को छूने चली अब सांस मेरी,
कब बुझेगी अचिर की चिर प्यास मेरी ?

ढल रहा दिन और छाया बढ़ रही है,
डाल तरु की गिरि-शिखर पर चढ़ रही है।

आज सीमा है न मेरे पास मेरी,
कब बुझेगी अचिर की चिर प्यास मेरी ?



## सेठिया के बारह गीत

# — फूल विहँसता-शूल मौन है —



फूल विहँसता-शूल मौन है ।
एक डाल के दोनों साथी,
दोनों को ही हवा झुलाती,
फूल झरेगा, शूल रहेगा, सत्य कौन है, भूल कौन है ?
फूल विहँसता-शूल मौन है ।

लहर नाचती-कूल मौन है ।
एक पंथ के दोनों साथी,
दोनों को किरणें नहलाती,
लहर मिटेगी, कूल रहेगा, सत्य कौन है, भूल कौन है ?
लहर नाचती-कूल मौन है ।

चरण बोलता-धूल मौन है ।
युग युग से हैं दोनों साथी,
दोनों पर ही नभ की छाती,
चरण रुकेगा, धूल चलेगी, सत्य कौन है, भूल कौन है ?
चरण बोलता--धूल मौन है ।



# – जो आँसू में ढल आता है –



जो नयनों में ढल जाता है,
आंसू भी है सपना भी है।

दुख का आंसू, सुख का आंसू,
अलग अलग आकार नहीं है।
सुख का सपना दुख का सपना,
दोनों ही साकार नहीं हैं।

एक भावना भर का अन्तर,
मिटना भी है बनना भी है।
जो सुमनों में उठ आता है,
सौरभ भी है छलना भी है।

अनिल पंख पर उड़ता वह जो,
जिस के स्वयं शरीर नहीं है।
फिर भी छूने उसकी काया,
किसकी सांस अधीर नहीं है ?

जो अनुभूत हुआ अन्तर में,
कल्पित भी है रचना भी है।
जो गीतों में बस जाता है,
छाया भी है अपना भी है।

रहता उन में निहित निवेदन,
किस के प्रति यह उर पर निर्भर।
एक मुक्ति का इंगित उन में,
एक नरक का कटु कर्कश स्वर।

निज अनुकूल समन्वित करना,
जीवन भी है मरना भी है।

## — चिर विकास के लिये सृजन को —



चिर विकास के लिये सृजन को
मिट्टी का अधिवास चाहिये ।

सदा ही चेतन फिर भी—
जब तक दूर धूल का आंचल
तब तक क्षुद्र व्यष्टि में बन्दी—
रहता बीज मृतक-सा निश्चल ।

सत्य चेतना, किन्तु साथ ही—
जड़ता पर विश्वास चाहिये ।

है सुमनों का हास मनोहर
पर धरती का मौन बड़ा है,
कल कल करती सरि के पीछे
जड़ता रूप पहाड़ खड़ा है,

गति के साथ अगति की महिमा;
गाये, वह इतिहास चाहिये ।

जो कुछ अलग अधूरा है वह
सत है एक समन्वय केवल,
थिर हो पाती—लौ न कभी भी—
अगर दीप का मिले न सम्बल,

खुले रहें अन्तर के लोचन,
ऐसा सतत प्रयास चाहिये ।



# मेरा सपना टूटा............ ।



मेरा सपना टूटा जैसे हरसिंगार का फूल ।
इतना हौले, लिपट कंठ से
सोई प्रिया अजान—
इतना हौले, तरुवर वासी—
खग को हुआ न ज्ञान,
एक विश्व से जुड़ा दूसरा विश्व हो गया धूल ।

श्रम से थकित पथिक ने देखा
तरु है, तरु की छाँह,
रति से श्रान्त प्रिया ने देखा
प्रिय है, प्रिय की बाँह,
पर दोनों की दृष्टि चेतना उन तक ही अनुकूल ।

सत्य, स्वप्न का शव पर जग को
शव का ही विश्वास
है अमूर्त में क्षुद्र मूर्त का
समझे कौन विकास ?
क्या सपना था तब फिर कह कर दुहराऊँ क्यों भूल ?
मेरा सपना टूटा जैसे हरसिंगार का फूल ।

'दीपकिरण' से



## आज की जो वासना प्रिय !



*आज की जो वासना प्रिय !*
*कल वही है सृष्टि,*
*आज की जो भावना प्रिय !*
*कल वही है दृष्टि ।*

*वासना का क्रम चले बस*
*है यही आधार,*
*भावना का श्रम चले बस*
*है यही आकार ।*

*और जीवन क्या ? जगत् क्या ?*
*पूछना ही व्यर्थ-*
*वासनामय, भावनामय*
*से परे क्या अर्थ ?*

'स्मित' से



# – 'देने को ही लो' –



जड़ का ग्रहण फलों में जाकर
दान मधुर बन जाता,
उर का सत्य अधर पर आकर
गान मदिर बन जाता,

धरती के पोषक तत्वों को
यदि जड़ ही पी जाती,
बीज नहीं होते बुझ जाती,

'देने को ही लो' इस में ही–
जीवन-क्रम मुसकाता ।

जो धरती का दान वही तो
जड़ का ग्रहण सजीवन–
जो जड़ का है दान वही तो
फल का ग्रहण अरे मन !

दीन नहीं जो लेता है, न–
देता है वह दाता ।

दान, ग्रहण की गति का ही है
केवल नाम निरूपण,
जड बन जाये अगर ग्रहण तो
दान जियेगा क्या क्षण ?

फल खा, पर गुटली को चल तू
हाथों हाथ लुटाता ।

जड का ग्रहण फलों में जाकर
दान मधुर बन जाता ।

'स्मित' ने

# प्रिय ! सच मानो तुम............ ।



*प्रिय ! सच मानो तुम, जीवन का-*
*आधार बदलता रहता है ।*

*है हास मधुर पर आंसू के-*
*क्षण में तो आंसू ही सुन्दर,*
*है गीत मधुर पर मौन कभी-*
*हो जाता उससे भी सुखकर,*

*तुम पात्र वही-पर दाता का*
*उपहार बदलता रहता है ।*

*है याद मधुर, पर कभी कहीं*
*विस्मृति की-सेज सुहानी है,*
*है मुक्ति मधुर, पर बन्धन हित*
*मर मिटती-कभी--जवानी है,*

*तुम वीणा वही--पर वादक का*
*स्वर-तार बदलता रहता है ।*

*है सुधा मधुर पर कभी गरल*
*अधरों का मोल चुकाता है,*
*है ज्योति मधुर पर कभी तिमिर*
*नयनों को अधिक लुभाता है,*

*तुम प्रेय वही पर प्रियतम का*
*श्रृंगार बदलता रहता है ।*

*प्रिय ! सच मानो तुम, जीवन का*
*आधार बदलता रहता है ।*

'स्मित' से

## — ईश्वर —

(•)

रूढ़ि-रीतियों के चिर-यौवन
घृणित वंचना के अवलम्ब,
मूक विवशता की जड़ अर्चा
मानव की श्रद्धा के दम्भ ।

मृग मरीचिका की प्रतिछाया
आत्म-समर्पण के उन्माद,
वर्ग भावना के अभिभावक
मूढ जगत के कलह विवाद ।

चल पौरुष के आत्मघात हे !
भक्ति बीन के नर्तित-नाग,
सतत मूर्च्छना चेतनता की-
मौलिकता के मुख के दाग ।

दुर्बलता के किन्हीं क्षणों में
जमे बुद्धि पर संशय घोर,
सहज ज्ञान की राह रोकने
बन कर तुम विश्वास कठोर ।

क्लीव-कल्पना निर्मित मिथ्या
सुप्टु-सृष्टि की-पहली भूल,
आह ! बन गया स्रष्टा सेवक
चढा शून्य को पूजा-फूल ।

'स्मित' से

# — शीत के दिन —



ये चमेली के सुमन से
मदिर उजले शीत के दिन ।

ये खिले सहसा मुरझाते,
ये मिले सहसा बिलगते,

ज्यों किसी अल्हड़ प्रणय के—
सलज झीने प्रीत के दिन ।

ये रजत के रूप वाले,
ये कनक सी धूप वाले,

एक मीठे से सपन की--
सुरभि मीनें गीत के दिन ।

व्योम नीला, भूमि उज्ज्वल,
प्रिय मिलन को प्राण विह्वल,

ये किसी हर को हराने
पंचशर की जीत के दिन ।

ये चमेली के सुमन से
सुभग धोले शीत के दिन ।

'स्मित' से

# दो मुझे जो सजा.......... ।



दो मुझे जो सजा वह मुझे कबूल है ।

यह सही कि जो किया
वह किया न ज्ञान से,
यह सही कि जो पिया
वह पिया अजान में,
मगर भूल भूल है बहस अब फिजूल है ।

क्यों कहूँ कि कुछ करो
'मैं अबूझ था' रहम,
बुजदिलों में मैं नहीं
मैं नहीं बेफहम—
खूब है मुझे पता-असूल तो असूल है ।

फ़िक्र में न डूब तू
फर्ज की पुकार सुन—
मत हिचक दण्ड दे
मैं कसूर वार सुन,
फैसला सुना कहूँ-फर्ज अब वसूल है ।
दो मुझे जो सजा वह मुझे कबूल है ॥

'टगर' से



# — प्यार की कसम —



प्यार की कसम,
करार की कसम।
सौ सवाल का सदा
एक ही जवाब—
जिन्दगी है धूप तो
मौत आफताब,
कर सके इन्हें जुदा
है किसी में दम ?
कर न तू वहम,
प्यार की कसम, करार की कसम।
क्या हुआ जो मिल गया
हमें जलावतन
बुलबुलों के वास्ते
गुलाब ही कफन।
जो किया सब सही—
रंच भी न गम,
क्यों करें शरम ?
प्यार की कसम, करार की कसम।
हम बसे तो क्या किसी—
का दोष हो गया ?
हम हँसे तो कौन गुल
खामोश हो गया ?
तंग दिल जहान पर
आ करें रहम,
चलें मिला कदम,
प्यार की कसम, करार की कसम।

'डगर' से

# — जिन्दगी जवान है —



उठा कदम रख दिया कि
रखा कदम उठा लिया,
बन गया वही सफर
जो फासला तय किया,

वक्त टूट कर सुबह
और शाम बन गया,
जिन्दगी जहां थमी
वहीं मुकाम बन गया,

पर अजीब जिद है कि
सिलसिला चल रहा,
सियाह-पोश रात में-
भी चिराग जल रहा.

और राज है यही-कि
आदमी महान है,
मौत मर थक गई
जिन्दी-जवान है।

'डगर' से



## नंद चतुर्वेदी

### दस कवितायें

१ शरद की चांदनी की रात

२ पर, तुम सहसा

३ गर्मियों की सांझ

४ पृथ्वी और बादलों की विदा

५ मेघ से घिरा-घिरा गगन रहा

६ गीत

७ विश्वास का सिन्धु

८ मेरे स्वप्न

९ धन्यवाद !

१० बादलों का गीत ।

# – शरद की चाँदनी की रात –



आज फिर आई शरद की चांदनी की रात।
मैं अभी भूला कहां हूँ वह सरल मुस्कान,
वे तुम्हारे नत-नयन के मौन मधुमय गान,
देखता था पर न मिटती देखने की प्यास,
आज तक भी लिख न पाया प्राण ! वह इतिहास,
आज भी भूला कहां हूँ वह मिलन की बात।

आज सच जीना धरा पर हो चला था भार,
लग रही थी जिन्दगी ही एक कारागार,
पर तुम्हारे प्यार का अब भी वही आदेश,
मंजिलों के पार जाने का वही आवेश,
मैं कहां भूला कि लाना है मुझे नव प्रात।

जी रहा हूँ क्योंकि जीवन में मुझे विश्वास,
जी रहा हूँ क्योंकि तुम मेरे हृदय के पास,
आज फिर फैला क्षितिज पर चांद का मृदु हास,
रजनिगंधा से सुवासित हो चला वातास,
रूप की इस मधुरिमा में मैं खड़ा रस-स्नात।
आज फिर आई शरद की चांदनी की रात॥

१६४८



## पर तुम सहसा.......... ।



पर तुम सहसा विश्वास कहाँ करते हो ।

जो बीत गये क्षण वे कितने मादक थे,
जो बीत रहे क्षण वे कितने मादक हैं,
जो आयेंगे वे निश्चित मादक क्षण होंगे.
पर तुम सहसा विश्वास कहाँ करते हो ।

तुमने ही तो खींची ये रेखायें कोमल,
तुमने ही तो आकृतियाँ दीं ये सरल-तरल,
तुमने प्राणों का प्यार दिया बन कर बादल,
पर तुम सहसा अब रंग कहाँ भरते हो ।

तुम अब तक कर आये अगनित पदचिह्न अमर
तुम अब तक आये मुस्कानों की छोड़ लहर,
कुछ बहुत न बीती रात अभी है प्रथम प्रहर
पर तुम सहसा पथ-दीप कहाँ धरते हो ।
पर तुम सहसा विश्वास कहाँ करते हो

१९४९



# — गर्मियों की साँझ —



गर्मियों की सांझ है
दूर तक मेरे वँरादे में बिछी हैं
चमचमाती धूप की बेहोश किरणें;
सामने की खिड़कियों से आ रहे हैं
पेड़ के सूखे, गिरे, बेरंग पत्ते।
चल रहा है सांप सी तिरछी सड़क पर
धूल-चक्कर;
सामने की इस पहाड़ी पर
बहुत ही अनमनी सी है उदासी।
डूबना तो चाहता है दूर सूरज
किन्तु, फिर भी डूब तो पाता नहीं है
गर्मियों की सांझ है
लम्बी
निराशा से भरी
सुनसान
गुम सुम।

** ** ** **

याद आता है किसी का चांद सा मुख
ठीक, चंदा की किरण सा
स्निग्ध, मोहक,
इस पहाड़ी से उझक कर झांकता हो
एक मीठा गीत, जैसे इस पहाड़ी के शिखर पर तैरता हो।

और, मेरा मन वहीं पर दौड़ता है
किन्तु, ये तो गर्मियों की सांझ है
निःशब्द सूनी-
इस उदासी में नहीं कुछ काम होता
और मेरा मन सदा कुछ स्वप्न लेकर घूमता है,
लोग कहते हैं कि सपने देखकर क्या
जिन्दगी की मंजिलें काटी गयी हैं ?
किन्तु, मेरे सामने तो स्वप्न ही हैं
और फिर ये गर्मियों की सांझ है
लम्बी, निराशा से भरी
सुनसान, गुम गुम ।



# – पृथ्वी और बादलों की विदा –



*खिल रही है धूप वर्षा के गगन में,*
*और बादल मांगते अंतिम विदा हैं।*
*तरुशिखर पर आज विस्तृत वाष्प के कुछ कण सजल हैं*
*बह रही पूरव दिशा से पवन-चंचल*
*और पर्वत का शिखर आर्द्रित नयन से*
*सांझ को घेरे हुए*
*रंगीन मेघों के*
*सरल, साभार-व्रत सा मौन देखे जा रहा है।*
*आज कुछ बेहोश सा स्वर घूमती है चातकी का*
*और वे सतरंग सुर-धनु की*
*विलक्षण भंगिमायें*
*एक सूनी सी उदासी में सिमट कर*
*दूर जाने कौन स्वप्नावृत गगन की*
*नीलिमा में मिल रही हैं।*
*आज बादल मांगते अंतिम विदा हैं*
*और पृथ्वी की सजल दुःख-भार से पलकें झुकी हैं*
*और अधरों पर किसी का गीत मधुमय गुंजरित है।*
*दूर पर्वत पार उड़ता जा रहा है मेघ का दल*
*और धरती डूबती ही जा रही है*
*एक ऐसे अर्थ के अस्तित्व में*
*जो कि कल ही मेघ ने उसको दिया है*
*उर्वरा है भूमि सुख-दुःख सब सहेगी*
*किन्तु, इस क्षण एक अनजाना,*
*विवश से दर्द जैसे छा रहा हो*
*और बादल मांगते अंतिम विदा हैं।*

## मेघ से घिरा-घिरा.......... ।



मेघ से घिरा-घिरा गगन रहा,
किन्तु, यूँ लगा धरा उदास है ।

डोलती रही कि चांद की किरण,
ढूँढता रहा कहीं मलय पवन,
पी पुकारता रहा पपीहरा,
किन्तु, बुझ सकी न हाय प्यास है !

आज कुछ झुके रहे पलक कहीं,
आज दर्द था मगर अजान सा,
आज यूँ लगा कि दे न कुछ सका,
और यूँ कि शेष कुछ न पास है !

आज मौन तट पुकारता रहा,
किन्तु, एक भी लहर न सुन सकी,
आज, मैं विकल निहारता रहा,
किन्तु, पंथ का बुझा प्रकाश है ।

मेघ से घिरा-घिरा गगन रहा,
किन्तु, यूँ लगा धरा उदास है ।



## — गीत —



कहीं जान पातीं कि कैसे गगन से,
तुम्हें बांध लाया प्रिये ! इस धरा पर ।

तुम्हीं ने बताया कि कैसे बँधी है,
विमोहित दिशा चैत की चांदनी से !
तुम्हीं ने बताया कि क्यों घिर रहा है,
कहीं मेघ फिर आज सौदामिनी से !
तुम्हारे सहज श्वास से है तरंगित,
पवन से खिली फूल की कामनायें,
तुम्हारी सरल चंदनी बाहुओ में,
हुई मुग्ध सी प्रीत की अर्चनायें ।

कहीं जान पातीं कि कैसे तुम्हीं से,
सुने हैं प्रिये ! प्राण ने स्वर्ग के स्वर ।

समझ पा रहा क्यों निशा ने सँजोया,
सहज फूल यों सांझ की तारिका का !
समझ पा रहा क्यों हुआ प्यार बेसुध,
नयन कोर में आज अभिसारिका का !
बंधा क्यूँ सदा से इन्हीं रिमझिमों में,
लिये प्यास का कोप अतृप्त सावन,
लिया बांध क्यों इन विपुल बंधनों से,
सहज भावना का बना जो अतनु-मन,

कहीं जान पातीं कि कैसे तुम्हीं से,
लिया बांध है काल का रुद्र-सागर ।

तुम्हारी पुलक यूँ जैसे किसी की,
सहज बह गयी प्राण की रुद्ध-धारा,
तुम्हारे वचन यूँ कि आगम निगम की,
गयी टूट सहसा कहीं बद्ध कारा,
तुम्हारे अलक पर उतर छाँह आई,
तुम्हारे नयन में हँसे चाँद तारे,
समझ सब गया हूँ तुम्हें प्रिय ! समझ कर
सुगम हो गये सत्य के भेद सारे ।

कहीं जान पातीं कि कैसे तुम्हीं में,
सभी स्वप्न का सार आया निखर कर ।

कहीं जान पाती कि कैसे गगन से,
तुम्हें बाँध लाया प्रिये ! इस धरा पर ।



# — विश्वास का सिन्धु —



डगमगाते तीर पर मेरे चरण दृढ़
सिन्धु का आक्रोश
मेघों से गगन की
खिंच रही भ्रू
किन्तु, फिर भी इन भुजाओं से
प्रलय की परिधि
कुंठित कर सकूँगा
यह अमर विश्वास मन का।
लालसा-तुर हूँ
विजय के स्वप्न भी हैं
और जो बरसा रहे हैं
सतत मेरी कामना पर
इन हथौड़ों की दुसह दुर्दान्त चोटें
उन सभी के सामने मैं
शीश भूधर सा उठाये
अधर पर मुस्कान
नयनों में बिजलियों को सँजोये
चल रहा हूँ।
सामने विश्वास का है सिन्धु
मेरे गीत के स्वर
ये जिन्हें दुहरा चुका हूँ सब समय में



६

चल चुके जिन पर कि घन के वार
चल चुकी जिन पर कि असि की धार
अविरल
किन्तु, फिर भी मृत्यु के विहत स्वरों पर
जो सनातन घोष जीवन का, विजय का।
क्या कटेगा सत्य का वह स्वर सनातन?
क्या घटेगा सिन्धु वह विश्वास का अब?
डगमगाते तीर पर जब ये चरण दृढ़!
डगमगाते तीर पर मेरे चरण दृढ़!



# — मेरे स्वप्न —



*यह गगन की नीलिमा है,*
*और उस पर मुस्कुराते चांद की भी रोशनी है,*
*रजनिगंधा के झकोरों से हुयी बेभान*
*तारों की कतारें सो रही हैं।*
*किन्तु, मेरे स्वप्न, तुम को नींद ही आती कहां है ?*
*स्वप्न ही तो जागते हैं रात भर मेरे अलस मस्तिष्क में*
*स्वप्न ही की अग्नि के आलोक में मैं*
*झांकता हूँ*
*इस अनागत के हृदय में।*
*एक सपना है विगत का*
*देह-सुख का, आत्म-रति का*
*सृष्टि मेरे ही लिये थी और मैं था*
*एक यह ही सत्य था*
*और कोई सत्य जैसे इस धरा के, वक्ष में पलता नहीं था।*
*रात का उठता चरण था*
*और मेरा स्वप्न बदला जा रहा था।*
*इस घड़ी का स्वप्न यह है*
*इस घड़ी में जी रहा हूँ*
*सांस लेकर*
*वायु में कम्पन उठा कर*
*बादलों से उठ रहे हैं बन्धु मेरे, मित्र मेरे*
*क्योंकि इस क्षण*
*वक्ष मेरा जल रहा है, प्राण सूखे जा रहे हैं*
*और मेरे पास ही में जिन्दगी की—सब मनोरम कल्पनायें*
*रिक्त, गुमसुम घिर रही हैं*
*मैं उन्हीं के साथ बैठा हूँ*

अग्नि मेरे पास में है
प्राण की तेजस्विता है
प्राण की तेजस्विता से कल्पना को देह दूँगा
रंग दूँगा
स्वप्न को सामर्थ्य दूँगा
मैं खड़ा हूँ कल्पनायें गा रही हैं
साँझ के रंगीन बादल उड़ रहे हैं
दूर मेरी सृष्टि को आकाश चूमे जा रहा है।
आज अपने तक नहीं है सृष्टि
आज अपने तक नहीं हैं यातनायें
साथ सब हैं—एक पारावार
जन का
रोष का
आक्रोश का
भय रहित हो स्वप्न देखे जा रहा हूँ।
रात बीती जा रही है
चाँद की मुस्कान नभ पर छा रही है
स्वप्न है यह प्रात का
मीठे प्रहर का
खेत पर सोना बरसना चाहता है
और सब के स्वर नये, सरगम नया है
प्राण में सब के भरा है अब उजाला
जिन्दगी के स्वप्न सबको मिल गये हैं
रात घटती जा रही है
प्रात होता जा रहा है।



# — धन्यवाद —



वन्धु ! जागरण की वेला में मेरे गीतों के स्वर लहरे ।
कुछ क्षण अब भी विफलमनोरथ घुटती रहती नयी तरुणिमा ।
कुछ क्षण घिर जाती मेघों से मेरे मन की नयी अरुणिमा ...... ।
कुछ क्षण मेरी मुस्कानों पर पूँजी का दानव ...... लहराता ...... ।
कुछ क्षण मेरे नये छंद का शोषण कंठ दवाये जाता ...... ।
धन्यवाद है किन्तु, साथियो ! तुम जीवन को झंकृत करते ...... ।
अपने पुष्ट वाहु लहरा कर पुलक प्रकम्पन मन में भरते ...... ।
सदा जलाते शक्ति, न्याय, समता, वैभव की दीपक वाती ...... ।
धन्यवाद यह शक्ति तुम्हारी मेरी मुस्कानें लहराती ...... ।
मेरे छंद तुम्हारे सपनों के रंगों से शोभित होते ...... ।
वन्धु ! तुम्हारे घोष उदधि की क्रोधित फुंकारों से घहरे ।

युगों-युगों से नई वहारों ने दी इनको रंग रवानी ...... ।
युगों-युगों से इन्हें मिली अभिशप्त जनों की हँसी जवानी ...... ।
मिला किसी के प्यार पले खलिहानों का देही का कंचन ...... ।
मिला किसी के घायल-श्रम का इनको तप्त श्वास का स्पंदन .. ।
मिला करोड़ों ही जन-जन के मन का भक्ति शक्ति मय दर्शन .. ।
मिला करोड़ों वन्धु-जनों के नये विधानों का आकर्षण ...... ।
मेरा गीत नहीं माटी का नहीं खांड़ का पंगु खिलौना ...... ।
मेरा गीत नहीं रच पाते शोषण के डालर का सोना ...... ।
धन्यवाद ! यह गीत धरा के विजय गर्व का स्वर उन्नायक ।
वन्धु ! जागरण की वेला में युग-युग तक मेरा स्वर ठहरे ।

धन्यवाद ! हम देख रहे हैं युग की उठती नयी चेतना······ ।
धन्यवाद ! हम सृजन कर रहे माँ धरती की नयी वंदना ।
कोटि-कोटि चरणों की ध्वनियां, कोटि-कोटि जन-मन का वैभव ।
धन्यवाद ! हम साथ लिये हैं नई सृष्टि का यौवन-शैशव ।
लिखा गया इतिहास हमारी नयन-विभा के नव-प्रकाश में ।
उठी बगावत की कुर्बानी नयी सृष्टि के सृजन-प्यास में ।
धन्यवाद ! जागी खेतों में फागुन की फसलों की रानी !
धन्यवाद ! इस नई आग की दीप्ति अँधेरे ने पहचानी !
धन्यवाद ! मेरे प्राणों में गूंजे जय के विपुल तराने !
बन्धु ! हमारे नये गगन में आज विजय के नव-ध्वज फहरे !
बन्धु ! जागरण की वेला में मेरे गीतों के स्वर लहरे !



# — बादलों का गीत —



आज नये घन आये, साथी !

सरल मेह की नयी फुहारें,
जागी धरती की मनुहारें,
आज किसी को सपनों का सुख,
आज किसी की मुग्ध पुकारें,
आज किसी की प्रीत पुरातन,
सहज-सहज लहराये, साथी !

आज झुकी काजल की बदली,
आज मुखर जीवन की मुरली.
आज किसी के मुग्ध नयन में,
हँसी तृप्ति की रेखा पहली,
आज गगन का प्यार—
धरा के आंचल में मुस्काये, साथी !

सुर-धनु के रंगों से सज कर,
आज विपुल सुख पाता अम्बर,
आज पवन की बांह सँभाले,
लहरों का इठलाता अँतर,
आज उठा ममता का सरगम,
वसुधा पर छा जाये, साथी !
आज नये घन आये, साथी !



## प्रकाश 'आतुर'

### आठ कवितायें

1. १ नूतन-नयन
2. २ अविश्वास
3. ३ बहुत चला क्यों थका काफिला
4. ४ जिन्दगी का गीत
5. ५ नई फसल के लिये गगन में............।
6. ६ लड़ने का नाम जवानी है ........।
7. ७ नई पौध
8. ८ जेठ की दुपहरी

# — नूतन-नयन —



दो नयन लजीले, शर्मीले—इन पलकों से जब टकराये।
युग की पीड़ा का भार लिये,
दो चरण-डगमगे—सहमाये।
दो नयनों के संचालन पर,
ये चरण-बढ़े-आगे आये।
दो नयनों का इंगित पा कर, पागल गति को विश्वास हुआ।
अधखिली पंखुरियों से खिलते,
जब ओठ, सकुचते-मुस्काये।
अन्तस के पट-आलोक लोक के
इन्द्रधनुष घिर-घिर आये।
जब नयन लजीले, शर्मीले,
इन नयनों से थे शर्माये।
गति में कम्पन, स्वर में सरगम,
मन में आह्लाद उमड़ आया।
नयनों में मदिर खुमारी की,
अल्हड़ यौवन सी थी छाया।
जैसे फागुन की फसलों को, जीवन की सुन्दर धूप मिली।
कजरारी बदली चीर सुबह का,
सूरज क्षणिक निकल आया।
तारे, रजनी के सपने ले,
इस धरती पर नीचे आये।

जब नयन लजीले, शर्मीले,
इन नयनों से थे शर्माये ।

पतझर में कोयल कूक उठी,
बैसाख में सावन घिर आया ।
उन्माद के सोते फूट पड़े,
रजनी में दिनकर की छाया ।
काँटों से बोझिल डाली पर, हँस पड़े सुमन-बह चली हवा ।
चल पड़ी तरंगें जीवन में,
जब चाँद धरा पर शर्माया ।

जब गीत हवा के झोंकों ने,
इठला-इठला कर थे गाये ।
तब नयन लजीले शर्मीले,
इन नयनों से थे शर्माये ।



## — अविश्वास —



अच्छा होता
अगर न होता,
मानव, पशु से सुन्दर मानव ।
आज उसी के दिल की धड़कन
बता रही है,
स्वार्थ छिपा है शिरा-शिरा में,
और धमनियां रक्त मांगती ।
उसकी आंखों में ज्वाला है,
उन में लालच,
उन में धोखा,
उन में छल है,
और हृदय में छिपी हुई है,
कपट-द्वेष की एक कहानी ।
उस की, पुष्ट भुजा वाले-
हाथों के पँजे,
अब भी देखो,
किसी मनुज की
अंतड़ियों को चीर फाड़ कर,
उन में धँस कर,
रक्त मांस की नदी बहाना
चाह रहे हैं ।

मानव पशु है,
निरा जानवर,
वन-मानुष सा वह बर्बर है
उस की जिह्वा
मांग रही है
प्यास बुझाने
रक्त-मनुज का

❀ ❀ ❀

हमें नहीं विश्वास तनिक भी
यह मानव--
'मनु' का वंशज है।



# — काफिला —



बहुत चला, क्यों थका काफिला ?
अरे ! अभी तो चलना होगा।

मंजिल की दूरी से घबरा, पांव अगर रुकने को आकुल,
व्यथित अगर चिन्ता से मानस, थकित पेशियां-हारी, व्याकुल।
लेकिन फिर भी दूर गगन का सुनो सितारा क्या कहता है ?
'अरे सिपाही', क्यों रुकते हो ? तुम्हें नई किरणें लाना है।
तुम्हें बदलना युग की भाषा, तुम्हें नया आलोक जगाना।
तुम्हें लबों पर आने वाली, खामोशी के गीत सुनाना।
तुम्हें—तुम्हारा युग कहता है—
दीप, प्रात तक जलना होगा।

युग से पीड़ित जन-मानस है युग की गंगा का जल खारा,
बँधी हुई युग की चेतनता, युग का मानस-पीड़ित हारा।
आज बहुत इन्सान विवश हैं, निर्बल सा, असहाय, घिनौना।
मंजिल उसकी दूर-जहां है, उस का सुन्दर रूप सलौना।
अभी निशा के बाद उषा की, उसे नई किरणों की आशा।
अभी थिरकते इंगित कहते-बढ़ो, बनेगी तृप्त-पिपासा।
सुबह, नया सूरज निकलेगा,
नभ के तारों ढलना होगा।

चलना होगा कदम बढ़ाकर, स्वयं नया पथ तुम्हें बनाना।
तुम्हें युगों से रुद्ध स्वरों में, 'नई राह' का सरगम लाना।

अभी किरण की रेख न फूटी, सुनो, क्षितिज ने तुम्हें पुकारा।
लाल लाल अम्बर का आंगन, म्लान बना, नभ का ध्रुव-तारा।
चले काफ़िला, मंजिल गाती, देखो-स्वयं पास आती है।
देखो जीवन की गंगा में, नई-बहारें, इतराती हैं।

नया-प्यार, बेचैन सिपाही,
नए गीत को बढ़ना होगा।

बहुत चला, क्यों थका काफ़िला ?
अरे ! अभी तो चलना होगा॥



## — जिन्दगी का गीत —



जीता हूँ, इसलिये कि मन में,
अब जीने की चाह बहुत है।
सच कहता हूँ,
मुझको मुझ से प्यार बहुत है।

एक दिवस लहरी ने चाहा,
इस तट का आलिंगन कर लूँ।
एक दिवस अंबर ने चाहा,
धरती को बाहों में भर लूँ।
लेकिन लहरें कभी न मिटती, आसमान फिर भी ऊपर है।

दीपक की बाती पर हँस, हँस,
किसी शलभ ने चाहा जल लूँ।
जलता हूँ इसलिये कि जग में, जलने से आराम बहुत है।

कीली पर यह धरती चलती,
ऋतु में नित परिवर्तन होता।
सुखद जलद, जल दे जाते पर,
फिर भी चातक प्यासा रोता।
पूर्ण हुई, कब, कौन-पिपासा ? कौन अमर बन कर है आता ?

यही चिरंतन प्रश्न सदा से,
पावों में जीवन गति लाता।
चलता हूँ इसलिये कि-मेरी अब भी लम्बी-राह बहुत है।

   

तुम हो मेरे साथ-यही विश्वास बहुत है।
पथ में कितने शूल बिखेरे निर्दय युग ने,
लेकिन कभी न रुकने वाले चरण रुके कब ?

मंजिल से पहचान पुरानी, इसीलिये तो,
तूफानों में उठने वाले शीश झुके कब ?
तुमने छूए प्राण, हृदय के तार स्वयं ही बजने जाते।
तुमने दी आवाज-कंठ में-गीत मनोरम उभरे आते।
गगन सुहाना लगता, हर-पल-हँसती-धरती,
प्राण! तुम्हारे एक दरश से-पीड़ा के घन बिखरे जाते।
सपनों का आकाश हमारा बहुत बड़ा है,
जीने का विश्वास हमारा बहुत कड़ा है,
स्मृतियों का दीप सँजोये कितने युग से,
देखो-सम्मुख आज नया मधुमास खड़ा है।
आज पुलकते प्राण-सांस में,
जीने का विश्वास बहुत है।
जीता हूं. इसलिये कि मन में,
अब जीने की चाह बहुत है।
सच कहता हूँ.
मुझको मुझ से प्यार बहुत है।



# — धरती का गीत —



नये सवेरे में धरती के, ये बेटे जग आये रे !

किरणों ने कर इनका स्वागत,
लाल किया अम्बर का घेरा,
मुदित हुई काया धरती की,
सजग बना, चल पड़ा 'कमेरा'।

इंच इंच की अपनी धरती, आज नया शृंगार करेगी।
नये सवेरे की वेला में, आज नया-त्योहार जनेगी॥

नई फसल के लिये गगन में,
ये बादल घिर आये रे !
नये सवेरे में धरती के-ये बेटे जग आये रे !

फौलादी इन का सीना है,
आंखों में शोले जलते हैं।
दो छोटे, पीले प्यालों में,
प्रलय-जलद, हलचल करते हैं।

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के ये, हँसते, नये तराने गाते।
चीर-खोद-धरती की छाती, नये सृजन के चिह्न बनाते॥

नई जवानी का पानी ले,
ये सागर लहराये रे !
नये सवेरे में धरती के, ये बेटे जग आये रे।

वसुधा के फोड़ों में नश्तर,
आज कुदाली देगी नूतन ।
आज युगों की संचित पीड़ा,
कर देगी जड़ तक परिवर्तन ।
जुल्मों के खामोश जनाजे, आज चलेंगे बिना कफ़न के ।
आज पूर्ण होंगे-सब सुन्दर, सपने-व्याकुल इस जन-मन के ।
रुद्ध युगों के इन कण्ठों में,
नव-सरगम-स्वर गाये रे ।
नई फसल के लिये गगन में, ये बादल घिर आये रे ।



# — जवानी का गीत —

चट्टान तोड़ कर राह करे,
यह वह लहराता पानी है।

अँगारों से हँसकर मिलना, विपदाओं में बढ़ते जाना।
तूफ़ानों का नित स्वागत कर, चट्टानों से लड़ते जाना।
सागर सी मर्यादित-असीम अम्बर सी व्यापक अविनाशी,
लहरों सी चपल, हवा सी गति, अतृप्त सदा से यह प्यासी।
इसमें फूलों की चाह भरी, इसमें सपनों की रात सजी,
इसमें मधुपायी माली की, सतरंगी दुनियां रोज बनी।
इसमें गीतों का सरगम है, इसमें मीठा सा उत्पीडन,
दो नयन लजीलों का इसमें, हँसता, गाता, खिलता मधुवन।

चट्टान तोड़ कर राह करे,
यह वह लहराता पानी है।
लड़ने का नाम जवानी है,
बढ़ने का नाम जवानी है।

इस मौत की काली छाया में, जीवन ही जवानी को मिलता,
इस जोर के झोंकों से ही तो, उपवन यह जवानी का खिलता।
दुनियां के नीरो थक जाते पर नहीं जवानी बँध पाती,
कांटों में राह बनाने को, क्षण भर न जवानी रुक पाती।
जब धड़के नब्ज जवानी की, उस रोज बगावत होती है,
उस रोज तहलका मचता है, उस रोज कयामत होती है।

उस रोज सिकन्दर मिटने हैं, नीरो की ताक़त रोती है,
जुम्बिश में एक जवानी के, धरती भी रूप बदलती है।

विद्रोह स्वयं विस्फोट लिये,
करता इसकी अगवानी है।
लड़ने का नाम जवानी है–
चढ़ने का नाम जवानी है।

जब घाव कसकने लगते हैं–जब पीप की दुर्गन्ध आती है,
जब आहों और कराहों से, भरती धरती की छाती है।
तब फोड़ों पर नश्तर लगता, तब जश्न जवानी करती है,
पत्थर के बुतों में हल चल, कर मन्दिर की नीवें हिलती हैं।
शोषण के गढ़ से जाजाकर, मेरी आवाजें टकराती,
इन्सान देवता बनता है, मसजिद मीनारें नम जाती।
पंडित मोमिन मुल्लाजी का, सिंहासन हिलने लगता है,
मन्दिर मसजिद में कैद किया–भगवान् सिहरने लगता है।
पांवों में सदियों का बल ले–छाती फौलादी हो जाती,
दुर्गम पथ के इन शूलों से, फूलों सी जवानी खिल जाती।
इंगित पर एक जवानी के, तूफ़ान जलजले आते हैं,
शोषण की मिट्टी से निर्मित, ये शिखर बिखरते जाते हैं।

विध्वंश और निर्माण लिए,
कुछ इसकी अजब कहानी है।
लड़ने का नाम जवानी है,
चढ़ने का नाम जवानी है।

—

## — नई-पौध —



छा रहा आलोक नूतन जिन्दगी का,
और काली रात-मिटती जा रही है।
गा रही फसलें तराना जिन्दगी का, क्योंकि मौसम भी सुहाना हो रह
जिन्दगी की धड़कनों का तार-हर-एक, आज जीने का बहाना हो रह
इन धमनियों में चली जो रक्त धारा, गर्दिशों को खाक करके सांस
और युग की इस तपिश को-इस जलन को, यह बहारों की हवा अब सो
रुक नहीं सकता, उठा तूफान जो यह,
जुल्म के इतिहास की लो, खाक उड़ती जा रही है।
छा रहा आलोक, युग की जिन्दगी का,
और काली रात-मिटती जा रही है।
गा रहा हूँ-क्योंकि अब जी चाहता है-खूब गाऊँ-क्योंकि गाना जिन्दग
बन रहे इतिहास, नूतन काव्य, दर्शन, हर तरफ छाई हुई, अद्भुत, अलौकिक
लो, सजा लो अर्चना के दीप-नूतन, क्योंकि, प्रभुता के महल अब ढह र
क्योंकि सड़ियल और दुर्गंधित युगों से, इस नदी के कूल सारे बह र
आज विषधर के विषैले और नरकीले फनों की,
दाढ़ कुचली जा रही है।
छा रहा आलोक नूतन जिन्दगी का,
और भय की रात, बीती जा रही है।
हो रही पुलकित धरा की गोद सुन्दर, मुक्त स्वर में आज कोई गा रह
जिन्दगी के साज में नत-चेतना भर, यह नया युग पास मेरे आ रह
कारखानों खेत औ खलियान में फिर, लो नया निर्माण छाया जा रह
पुलकती आल्हाद से धरती सुहागिन, विगत युग का-शव, जलाया जा र
स्वप्न में जो कल्पना के पंख पर उड़ती,
वही तस्वीर अब साकार होती जा रही है।
छा रहा आलोक नूतन जिन्दगी का,
और काली रात-मिटती जा रही है।

# — जेठ की दोपहरी —



आज जेठ की दोपहरी में,
हलवाहे ने धरती जोती।

लूएँ चलतीं, जलती धरती,
आसमान शोले बरसाता,
पर जिन्दा खामोश जनाजा,
तनिक न रुकता, बढ़ता जाता।
और पांव के छालों में से, पीप निकलती, दर्द कसकता,
और उभरते सीने में नित, सांसों का गुब्बार सिसकता,
और नयन से झर रह जाते, पेशानी, सुन्दर मोती।
आज जेठ की दोपहरी में, हलवाहे ने धरती जोती।

दूर दूर तक आसमान में,
बादल आज नहीं मंडराते।
दो सावन की छुटी जवानी,
झरने चुप हैं, गीत न गाते।
पिछली बार बिके थे जेवर, अब शायद बैलों की बारी।
अब शायद हल और झोंपड़ी के बिक जाने की तैयारी।
और मेड पर बैठी, उसकी, बिटिया, सूनी ही मैं रोती।
आज जेठ की दोपहरी में, हलवाहे ने धरती जोती।

दोपहरी में दूर क्षितिज पर,
चली न रही एक [illegible]।

सौ पैवन्द लगी साड़ी से,
बिखर रहा है जिसका यौवन।
जिसके सर के बाल उलझ कर, उलझी हुई कहानी कहते,
दो पीले कोटर में जिसके, जेठ माह में झरने बहते।
जो अब तक यह जान न पाई, कैसी रात बसन्ती होती।
आज जेठ की दोपहरी में, हलवाहे ने धरती जोती।

खेत हंसेगा, सूद चुकेगा,
कातिक हंसते कट जायेगा।
और महाजन-पटवारी का,
मूल-ब्याज, सब चुक जायेगा।
पर फिर भी किस्मत से जकड़ा शंकित हृदय, भूख का मारा।
पोंछ पसीना देख रहा है, आज गगन का आंगन सारा।
और कल्पना-स्वप्निल-सुन्दर, ऐसे नित नव दीप संजोती।
आज जेठ की दोपहरी में-हलवाहे ने धरती जोती।



## सुधीन्द्र

### आठ गीत दो गज़लें

# दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूँ।



फूंक से तुमने दिये जो
वेणु के सब रन्ध्र ये भर,
मृदुलता उसको मिली
कोमल तुम्हारे ओठ छूकर,
मधुर ममता के परस से
घुल गई उसमें मधुरिमा,
आज मुखरित हो उठी वह
अँगुलियों का प्यार पाकर।
स्वर मुझे तुमने दिया–
मैं गान तुमको दे रहा हूँ।

o o o

नयन-पट पर जो दिवस में
चित्र खिंच जाते अमंगल–
डालता धो यामिनी में
भर पलक में स्वप्न का जल
भाव है, मधु भावना भी
किन्तु एक अभाव तुम हो
खोज में जिसकी निरन्तर
लीन यह पुतली अचंचल,
मन मुझे तुमने दिया–
मैं ध्यान तुमको दे रहा हूँ।

o o o

मृत्तिका के कुछ कणों में
लिया अमृत बांध मैंने,

कलश के कुछ बिन्दुओं में
सिन्धु पाया साथ मैंने,
अमृत बिन्दु रहे कहा-हा-
साँस सौरभ बस गया है,
पुतलियों में है चुराया
मधुर रूप अगाध मैंने,
कण मुझे तुमने दिया-
मैं प्राण तुमको दे रहा हूँ।

दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूँ।

('अमृतलेखा' का एक गीत

अमर जन्म बनता मरण की कथा से ।



प्रलय में न होती
अपरिमित सुधा जो,
नहीं प्राण को तीव्र
लगती क्षुधा तो,
न यदि फूल ही--
कण्टकों बीच पलते,
चरण तो न ये
चूमने को मचलते,
विरह--पार जग में
मिलन जो न बसता
न नाविक कभी उस
भँवर बीच धँसता,
मधुर प्रेम बनता विरह की व्यथा से ।

  

प्रणय--लाभ की निधि
जलधि में न होती
नदी तो न यों--
पत्थरों--बीच रोती
न होती सुखद शान्ति--
के प्रेम--बांधी

दिशा भूलकर तो
भटकती न आंधी,
न क्षय जो सुखद
पूर्णिमा को बुलाता,
शशी तो न मर-मर
नये जन्म पाता,
सुखद सिद्धि है साधना की प्रभा से।
अमर जन्म बनता मरण की कथा से॥



# – कल्पना के पंख और संसार की जंजीर –



कल्पना के पंख पर बैठा हुआ मैं–
पांव में जंजीर है संसार की !

इन्द्रधनुषी रंग मैंने तूलिका में
भर सुनहले शबनमी सपने रँगे,

देह का भय यह प्रलय का भूलने को
प्रणय-लय में प्राण ये अपने रँगे,

मलय-सौरभ में बसाकर केश को
गूँथ वेणी में प्रिया की फूल को,

रम्य नन्दन की चुनीं कलियां कुमारी,
भूल बैठा मैं धरा के शूल को !

नील घन वसना चपल सौदामिनी से
रात दिन करता रहा रंग रेलियां

प्राण के ही रास-रस के ताल सम में
मृत्यु से की केलियां अठखेलियां !–

आंसुओं को तो हंसी के बीच घोला
पुतलियों में प्राण का सब भेद खोला

पर अचानक कूद कर मैं बह चला जब
बाढ़ सी आई धरा के आंसुओं की धार की।

............

फूल के गजरे उतारे अंग से थे
ली लहू के रंग की ज्वाला जगा,

और ठुकरा कर तृषा के पात्र को भी
ओंठ से छिप कर लिया प्याला लगा,

रात-दिन संघर्ष में हँसता रहा मैं
प्राण की पीड़ा दबाकर प्राण में,

प्रेम कुंजों की सँजोये कल्पना से
जूझता ही मैं रहा तूफ़ान में।

एक दिन भूली हुई पहिचान सी क्या
चातुरी में राग भरती तुम मिलीं,

मलय-श्वासों के मदिर दे स्पर्श पाकर
हृदय की चिर सुप्त सी कलिका खिली।

छीन ली फिर चातुरी तुमने पराई—
कान में पर शंख की ध्वनि थी समाई,

और काया में निरन्तर सनसनी सी
उठ रही थी प्राण में जो भूख मर्म-प्रहार सी

.............

देखना प्राणप्रिये, तुम में इधर मैं
चिह्न यौवन के अधीर उभार के,

प्राण अपने आप ही उठ जा रहे हैं
इन तुम्हारे बंधनों से प्यार के!

आज बाहें भी बढ़ी ही रह गई हैं,
देख मानव की कठिन कड़ियां कसकतीं,

और अधरों पर झुके ही रह गये हैं
देख मां की दूध की कड़ियां सिसकतीं,

बांसुरी कैसे बजाऊँ मैं प्रणय की
जब प्रलय का सुन रहा हुँकार मैं,

ओठ से कैसे कहां मैं मुसकराऊँ—
सुन रहा हूँ जब करुण चीत्कार मैं

आज है जनपथ ध्वनित, भूगोल डोला
आज जब की क्रान्ति का है ज्वार बोला

आज जाने दो कि जन-संकट बुलाता है मुझे
लौट कर जीता करूंगा बात तुमसे प्यार की।



# — जयमाला में हार हमारी —



जयमाला में हार हमारी
मोती बन बन गुंथती जाती !
आती जो कि विजय के पहले
वह तो हार नहीं कहलाती ।

० ० ० ०

पलकों में जो प्यास बनी है—
अधरों में उन्माद बनी है ।
वही वासना प्रेम बनी जो
दूषित प्यार नहीं कहलाती ।
जयमाला में०

० ० ० ०

पाप-पुण्य को चमका देता
पर क्यों मन में [illegible] ।
मन की भूली-भूली भूलें
पाप [illegible] नहीं [illegible] ।
जयमाला में०

० ० ० ०

जग का दुख ही, आँसू बनता-
[illegible] !
व्यथा बनी जो गल-गल [illegible]
[illegible] नहीं [illegible] ।
जयमाला में०

० ० ० ०

जीने में विश्वास न टूटे
पीड़ा में भी हास न छूटे।
चिन्ता जो बन जाती आशा
मन का भार नहीं कहलाती।
जयमाला में०

० ० ० ०

चल कर पथिक विराम न ले क्या
थक कर भी विश्राम न ले क्या?
मृत्यु नया जीवन लाती जो—
वह संहार नहीं कहलाती।
जयमाला में हार हमारी
मोती बन बन गुंथती जाती,
आती जो कि विजय के पहिले
वह तो हार नहीं कहलाती।



# — मिट्टी की कहानी —



(१)

सुन चुके हो देवताओं की कहानी,
सुन चुके हो तुम मनुष्यों की कहानी—
मैं सुनाता आज, मिट्टी की कहानी।

क्यों युगों के बाद कवि के कण्ठ में यह
जाग कर यों आज मिट्टी बोलती है?
जो न खोला था किसी ने आज तक भी
भेद कवि की लेखनी में खोलती है।

दूर मिट्टी के पड़े [illegible] कि [illegible]
कह दिया 'संसार मिट्टी है!' [illegible]
आज उनकी भूल को पहिचान कर जो
यह हृदय की मर्म-गाँठ टटोलती है।

फिर नहीं कुछ चेतना [illegible] रही है,
आज मिट्टी भी वही गाथा कहती।
मैं सुनाता…………………।

(२)

जल रहे हैं दीप [illegible] आकाश में [illegible]
प्रति निशा दीपावली-सी मन रही है,
जानते हो [illegible] [illegible] रहे हैं?
मैं [illegible] मिट्टी [illegible] है,

कोटि सूरज, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे—
मैं कहूँगा-एक मिट्टी ने सँवारे !
इन्द्रधनुषी मेघ जो सुन्दर घिरे हैं,
एक मिट्टी ही उन्हें यों रंग रही है।

एक मिट्टी के लिये ऊषा मधुर है—
एक मिट्टी के लिये सन्ध्या सुहानी।
मैं सुनाता ................. ।

( ३ )

'वायु' मिट्टी की कि चलती सांस देखो,
'जल'-कि मिट्टी का लहू जो बह रहा है।
'आग' क्या है ? प्राण—की उसकी लपट है,
शून्य क्यों 'आकाश' ? यह मिट्टी कहां है ?

जड़ कि पशु-नर-दैत्य-दानव-देवता है,
एक मिट्टी की कि वह चिद्रूपता है।
और जिस पल पूर्ण अतिमानस, जगा है—
खिल गया बस फूल मिट्टी का कहां है।

किन्तु मिट्टी ही अमर है मूल उसकी—
भूल कर भी है न यह हम को भुलानी।
मैं सुनाता··· ................. ।

( ४ )

उठ गई मिट्टी हिमालय नाम उसका,
भर उठी मिट्टी वही सागर कहाया।
यह नदी-जब मन कि मिट्टी का गला था
खेत-मिट्टी का हिया ही लहलहाया।

घर बने उन पर गये तुम देख सारे,
और घर उजड़ा कि फिर [illegible] ।
फट पड़े ज्वालामुखी-मिट्टी कुपित सी,
हिल गई मिट्टी यहाँ भूकम्प [illegible] ।

एक मिट्टी की यहाँ सब कल्प हलचल,
है अचल मिट्टी जिसी ने पर न जानी ।
मैं सुनाता ·· · ····· ··· · ·· ।

( ५ )

छत्र-सिंहासन बने, नरपाल प्यारे,
सज गये थे ताज मिट्टी ने कि न्यारा ।
चक्रवर्ती राज ने कुछ [illegible] सारे,
दुर्ग-गृह-आकार मिट्टी ने निखारा ।

किन्तु मिट्टी-के-खिलौने सब [illegible],
खेल मिट्टी के रहे सब धूल [illegible] ।
डगमगाये और [illegible] हैं दे-
एक पल ही नष्ट कि मिट्टी ने पसारा ।

यह अलग था नीति थी पर [illegible] !
तुम सुनो यह आज मिट्टी की कहानी ।
मैं सुनाता ····· ····· - ।

( ६ )

मनुज मिट्टी की कहीं तो देखता है,
'सभ्यता' क्या है ? कि मिट्टी से बना है ।
यह 'कला'-शृंगार मिट्टी से बना है,
और यह 'साहित्य' मिट्टी ने [illegible] !

कर्म है शासित कि मिट्टी के नियम से,
धर्म मिट्टी के कि संयम और शम से।
काल क्या है यह कि मिट्टी की प्रगति ही,
और युग क्या एक मिट्टी के कि क्षण ही।

तुम कहो भूगोल-मिट्टी की प्रगति है,
और यह इतिहास मिट्टी की निशानी।
मैं सुनाता..................... ।

( ७ )

वर्ग या श्रेणी न जिसकी गोद में है-
कौन फिर उसमें बड़ा है कौन छोटा?
खण्ड ये अपने न मिट्टी मानती है-
कौन फिर उसमें खरा है कौन खोटा?

ये विकट संग्राम लाती, क्रान्ति आई-
किन्तु मिट्टी ही वहां पर शांति लाई।
यह नहीं है सूक्ष्म तत्वज्ञान-दर्शन,
यह इसी संसार का सिद्धान्त मोटा-

जो कि मिट्टी को झुका कर सिर चलेंगे,
हार निज उनको नहीं होगी बुलानी।
मैं सुनाता..................... ।

( ८ )

यह अमित आलोक आत्मा का खिला जो
अंधतम जिसने दिशाओं का जलाया-
खिल सका है प्राण की लौ को जलाये,
जब उसे है स्नेह मिट्टी ने पिलाया।

प्रेम प्राणों में तभी हँस कर खिलेगा,
रूप जब उनका कि मिट्टी में मिलेगा।
हीर का जलना कभी सब जानते हैं—
किन्तु मिट्टी में उसे जलना मिलेगा।

स्वर्ग का आगार या नव प्रेम-कुञ्ज,
है हमें अब प्रीति मिट्टी की जवानी।
मैं सुनाता ······       ········· ।

(९)

है जिया जग में वही जिसने किया कुछ,
रस बनाकर प्राण मिट्टी का पिया है।
दूर रहकर कौन मिट्टी से बताओ—
इस जगत में एक पल को भी जिया है?

मृत्यु मिट्टी की भला कब और कहाँ?
यह कि मिट्टी में रहा ही मोद यहाँ।
पर अमर हो या कि जड़-चेतन जगत में,
क्या न मिट्टी मृत्यु को जीवन दिया है?

एक मिट्टी में दबी रह कर निखरी,
देव-मानवता कि ईश्वरता कहानी।
मैं सुनाता ···· ················ ।

(१०)

है न मिट्टी तुच्छ, यह नश्वर नहीं है
यह प्रलय से भी न डरकर हारती है।
कौन मिट्टी को उजाड़ भी सका है?
यह अमर है, मृत्यु को भी मारती है।

जो न मिट्टी में बसा है या पला है,
जो न मिट्टी में रमा है या ढला है।
चक्रवर्ती हो कि वह जग का विजेता—
आज ईश्वर को वही ललकारती है।

कौन मिट्टी का भला तूफान रोके ?
कौन मिट्टी की भला टोके जवानी ?
मैं सुनाता ........ ......... ।

(११)

और मिट्टी मोल ले सकता न कोई,
क्योंकि मिट्टी पर सहज अधिकार सबका।
इसलिए यह सृष्टि मिट्टी पर हुइ जो—
सब जनों की है कि है संसार सब का।

देवता ? होगा ! कि ईश्वर ? कौन जाने !
किधर से उतरा ? कहां से कौन माने ?
जो न उतरे—किन्तु मिट्टी से उठे जो,
एक उसमें ही रहेगा प्यार सबका।

जो तुम्हें मिट्टी सुनायेगी किसी दिन
थी मुझे यह बात मिट्टी की सुनानी।
सुन चुके हो देवताओं की कहानी,
सुन चुके हो तुम मनुष्यों की कहानी,
मैं सुनाता आज मिट्टी की कहानी।



# प्राण मैं जब से तुम्हारा हो चुका हूँ !



प्राण मैं जब से तुम्हारा हो चुका हूँ !
आह, अपने आपको मैं खो चुका हूँ !

मिल गये इस जन्म में उस जन्म के तुम,
याद कर कर हँस चुका हूँ, रो चुका हूँ !

तुम नये रँग में झलकते पुतलियों में,
मैं पुरानी मंद सुधियाँ धो चुका हूँ।

कब खिलेंगे फूल वे मुसकान वाले,
आज जो मैं आँसुओं को बो चुका हूँ।

सत्य जाने दूर है कितना हमारा,
स्वप्न का मैं भार अब तक ढो चुका हूँ !



# प्राण, यह प्राण एकतारा है !



प्राण, यह प्राण एकतारा है !
सांस के तार से सँवारा है !!

गेय तुम एक और मैं गायक,
और यह जन्म गीत प्यारा है !

सुख-दुखों की चलीं अँगुलियां हैं,
प्रेम मूर्च्छना-मींड धारा है !

एक पल एक कल्प सा जिसमें,
बन गई मधुर देह-कारा है !

टूट जाए न तार झन-झन कर,
मृत्यु ने कशाघात मारा है !

बचा लो तुम इसे संभालो इसको,
क्योंकि यह प्राण ही तुम्हारा है !



# मैं आज किसी के प्राणों में बस गया।



जीवन का फूल खिला
यौवन की मादक गंध उठी
छवि की ज्वाला इठला
नयनों को कर मधु अन्ध उठी,
यौवन जो रूप बना अंगों में छलका
वह रूप प्रेम बन प्राणों में हँस गया।
मैं आज किसी के प्राणों में ‥ ‥ ।

० ० ०

सौरभ से लहराती
श्यामल अलकों में व्योम बसा।
यौवन से मदमाती
पलकों में सस्मित सोम हँसा,
मन उलझ गया दृग के रतनारे डोरों में
तन मृदुल बाँह के बन्धन में कस गया।
मैं आज किसी के प्राणों में ‥‥‥ ।

० ० ०

वीणा के तार बजे
आलिंगन की ले लय गहरी
मिजरावी अधर सजे
चुम्बन की उठी मींड लहरी
स्वर दिया सांस ने ताल हृदय की धड़कन ने
मधु मिलन बना जीवन को तरस गया।
मैं आज किसी के प्राणों में बस गया॥

———

# कुछ होती तन की.............. ।



कुछ होती तन की बीमारी,
कुछ होती मन की बीमारी,
मेरी बीमारी प्राणों की ।
कुछ होती तन की लाचारी,
कुछ होती मन की लाचारी,
मेरी लाचारी प्राणों की !

०० ०० ००

जो अनजाने बढ़ जाती है ऐसी कुछ मेरी धड़कन है,
जो अनदेखें बढ़ जाती है प्राणों की ऐसी कसकन है ।
ये प्राण सिसकते रहते पर ओठों पर बात नहीं लाते,
ये नयन कहीं पर उलझ रहे कुछ जाल नहीं सुलझा पाते ।
तन का सुख सब कुछ मिल जाता,
मन फिर भी हाय नहीं भरता-
कुछ होती तन की बीमारी,
कुछ होती मन की बीमारी,
मेरी बीमारी प्राणों की ।

०० ०० ००

सौगन्ध कि शत-शत लोभों में मैंने इस तन को रोका है,
तन-सुख की ओर ललकने से मैंने इस मन को टोका है !
क्या सांसें भी झुठलाती हैं, क्या धड़कन भी करती है छल,
हों लाख-लाख बन्धन पर कुछ कर देता प्राणों को चंचल !
तन मेरा तब कसमस करता
मन मेरा ध्यान नहीं धरता,

कुछ होती तन की लाचारी

कुछ होती मन की लाचारी

मेरी लाचारी प्राणों की।

०० ०० ००

फूलों की पगडण्डी पर भी चलता चलता तन थक जाता,
कुछ जग में ऐसे रस होते जिनको पीकर मन छक जाता
तब थके-थके से इस तन में तब चुभे-चुभे से इस मन में
कुछ नई कामना जग जाती, कुछ नई चेतना जीवन में
जिससे कि अमरता पा जाती मेरी आखों की नश्वरता।

कुछ होती तन की तैयारी

कुछ होती मन की तैयारी

मेरी तैयारी प्राणों की।

०० ०० ००

क्या आग लगी है इस तन में अंगों का लहू उफनता है
मन धीमे-धीमे जल-जल कर शीतल उजियाला बनता है
किसने इस मिट्टी को दी है ऐसी अमृत रस की थाती
कब जलती है, हां जगती है, जिससे यह जीवन की बाती।

तन जल जल कर भी जगता है,

मन मर मर भी न कभी मरता।

कुछ होती तन की चिनगारी,

कुछ होती मन की चिनगारी

मेरी चिनगारी प्राणों की।



## — सप्तक —



*प्राणों में प्राण छिड़ी आसावरी आज !*

(१)

सांसों में मेरे की तुमने जो मुखर वेणु,
नाच उठी जीवन-यमुना की लहर रेणु,
नीरज जिसके प्रहार, रज भी जिसकी पराग
काया यह मृण्मय-सी आज हुई काम धेनु,
झूम उठी छाया--गौरि--सांवरी आज ।
प्राणों में ............... .......... ।

(२)

छूकर इन नयनों की अंगुलियां सुकुमार,
झंकृत हो उठे आज मेरे ये तार-तार,
रोम-रोम गाते जो तुम्हारे प्रेम-केदार
सुन ली ही मेरे इन प्राणों ने वह पुकार,
मुखरित है काया की कादम्बरी आज ।
प्राणों में.............. .......... ।

(३)

रँग न सकूँ रसना से प्रेम का अमित रँग,
गाता पर प्रेम-गीत मेरा यह अंग--अंग,
छूकर ही छेड़ गया फूलों से आ अनंग
मेरी इस धड़कन में मिल राग सारंग
बहती स्वर--लहरी में जीवन--तरी आज ।
प्राणों में ....... ...     ....... . .. ।

( ४ )

बिखरे जो अम्बर में तारक के चित्र-फूल
नयनों में मेरे वही केलि उठी आज फूल,
सरिता का वह विहार कैसे सकूँ आज भूल,
दिखता स्वर्गंगा-सा उसका जो ज्योति-कूल,
खेलेंगे साथ साथ प्रणय-नाव री आज !
प्राणों में ......... ..... . .. ।

( ५ )

सुन सुन कर नूपुर का रुनझुन रुनझुन अभिराम
जाग उठे मेरे इन कानों में स्वर-ग्राम ।
सुन सुन कर प्रलयंकर झूम उठा लास-काम
मुझ में मरण ने भी पाया है अब विराम,
जीवन में प्राण सुधा जिसने भरी आज ।
प्राणों में .. . ..... ....... ।

( ६ )

रागों में जिसने ये काल-कल्प लिये जीत,
रागिनी तुम्हीं से मैं बना हूँ आज संगीत ।
देती है मेरी ये पलकें मधुर ताल
लय में है लीन हुए मेरे आगत अतीत ।
बन जाओ प्रीति गीति लय-सुन्दरी आज ।
प्राणों में .. ......... ... ।

( ७ )

बीन बनी काया ही जब तुम हो प्रिय समीप,
गूंथते तुम्हारे स्वर सातों ये सात द्वीप,
जिसका अवलम्ब लिये गाऊँ मैं वेणु-राग
मेरी तुम कल्पलता छा लो मुझे बनी नीप
बिखर पड़े मेरे व्रज में विभावरी आज ।
प्राणों में प्राण छिड़ी आसावरी आज ॥

---

## ज्ञान भारिल्ल

### इन कविताएँ

# — समय की शिला पर —



चला मैं लहू लाल सीने का लेकर,
नए गीत लिखने समय की शिला पर।

× × ×

कहीं सो गई हैं बहारें धरा की,
कहीं सो गई है बहारों की सरगम।
कहीं जिन्दगी का इशारा नहीं है,
जमाने के चेहरे पर छाया है मातम।
मगर इन नसों में अभी है रवानी,
रहूँगा धरा पर बहारें खिलाकर।

× × ×

चले कारवां जिन्दगी का कहां पर,
कहीं एक इन्सान चलता नहीं है।
जलें जिन्दगी की मशालें कहां पर,
कहीं एक दीपक तो जलता नहीं है।
मगर आग सीने में बाकी बहुत है,
रहूँगा बुझे इन दियों को जलाकर।

× × ×

मनाले गगन ! और कुछ दिन दिवाली
सजा ले गगन ! और कुछ दिन सितारे।
कि मेरी धरा आज सोई हुई है,
अभी गीत तड़पे नहीं हैं हमारे।
मगर उठ रहा है धुंआ कुछ हृदय से,
रहूँगा गगन के सितारे बना कर।

# — पहले बादल, पहली रिमझिम —



ये अषाढ़ के पहले बादल, पहली रिमझिम,
लो ! धरती के उर की जागी सोई सरगम ।

तेरा पहला मान-याद की विद्युत् सिहरन,
नयनों की बरसात-प्राण का विगलित कंपन,
फिर मन के मधु-गीत और मनचाहा मौसिम;
ये अषाढ़ के पहले बादल, पहली रिमझिम ।

नभ से धरती दूर-कहीं, पर, कोई बन्धन,
हम-तुम भी मजबूर-जुड़े हैं पर, मन से मन,
तरल नेह के तार, तरलतम उर-अभिनन्दन,
ये अषाढ़ के पहले बादल, पहली रिमझिम ।



# — मेरा गीत, तुम्हारा गुनाह —



गीत मैंने तुम्हारे लिखे है, मगर,
गीत बनने की तुम ही गुनहगार हो।

ये सही है कि मैं आज बेमान हूँ,
और मन की लहर पर उठा ज्वार है,
किन्तु तुम चांद बनकर हसी जब प्रिये !
क्यों स्वयं पर मुझे आज अधिकार हो ...... ?

ये नशीले नयन, ये लजीली हंसी,
ये गुलाबों की महफिल लिए तुम चली,
चौंक कर मैं जरा सा ठहर ही गया,
क्या करूं जब तुम्हें खुद न इन्कार हो ...... ?

मैं खिंचा आ रहा हूँ प्रणय-डोर से,
मैं बिंधा आ रहा हूँ नयन-कोर से,
प्राण ! लाचार हूँ, पांव रुकते नहीं,
क्यों बुलाती मुझे पास हर बार हो ..... ?

गीत मैंने तुम्हारे लिखे हैं, मगर,
गीत बनने की तुम ही गुनहगार हो।



# — भोर का गीत —



रात के शृंगार के अवसान पर
कौन प्राची में चिता सुलगा रहा है ?

झड़ रहे हैं फूल-से नभ के सितारे;
बह रहा है भोर का चंचल पवन भी,
खिल रही कलियां नए उल्लास से हैं,
रो रही पर ओस, रोता है गगन भी—
ढल रहा है चांद—
ढलता जा रहा है ।

मिट चले हैं आंख के सपने सुनहले,
मांगने अन्तिम विदा रजनी लगी है,
बुझ चले हैं दीप संध्या से जले जो,
सो चला है प्यार जब दुनियां जगी है,
गल रहा है प्राण
गलता जा रहा है ।

मिल रहे तरुपात हैं रवि की किरण से,
रात जाती है, सवेरा आ रहा है,
कौन पूरब से पवन की बांसुरी पर,
भैरवी के स्वर बजाता आ रहा है ?
जल रहा आकाश
जलता जा रहा है ।

कौन प्राची में चिता सुलगा रहा है ?

## — ये गीत अमर —



मैं एकाकी जीवन पथ पर ।

हो गई सांझ, बन गए नीड़,
परदेसी लौटे, हुई भीड़,
मैं देख रहा दिल को थामे, आबाद नहीं है मेरा घर ।
मैं एकाकी जीवन-पथ पर ।

मेरे पथ का है अन्त नहीं,
जीवन में सरस बसन्त नहीं,
निर्जन की सूखी डालों से, टकराता रहता मेरा स्वर ।
मैं एकाकी जीवन—पथ पर ।

तुम साथ न दोगे मेरा, पर,
मन बहला लूँगा मैं गा कर,
मेरी संगिनि वेदना विकल, मेरे साथी ये गीत अमर ।
ये गीत अमर.....................

( 'प्यार' का एक गीत )



# – पवन और हिलोरें –



वहुत बेचैन है आज का पवन,
और सागर में उठी हैं हिलोरें नई।
हसी है गगन में सुनहली किरण
वहुत सो चुकीं, लो, दिशाएँ जगी हैं
हुई रात है शेष
आया सवेरा
सवेरे की ठंडी हवाएँ चली हैं।
किनारे से टकरा रही है लहर
हटो, तुम वहुत अव पुराने हुए,
कि सीमा नहीं मानता है पवन भी
समुन्दर की लहरों को लहरा रहा है,
लहर के थपेड़े,
थपेड़ों की ताकत–
पवन आज ताकत को अजमा रहा है।
कि हिलने लगे ये किनारे के पत्थर
ये चट्टान–
भौंडी सी,
सदियों पुरानी,
लहर क्या उठी है कि हिलने लगी है,
धसकने लगे हैं किनारे, कंगूरे
समुन्दर का पानी उछल जो रहा है।
लहर की जवानी मचल जो रही है।
कि सीमा नही आज,
निस्सीमता है
धरा से मिलेगा उतर कर गगन।
वहुत वेचैन है आज का पवन।

कहीं दूर बंसी के स्वर बज उठे हैं
सुरों ने लरज कर पुकारा किसी को,
कि नाविक लहर के थपेड़ों में उलझे
थपेड़ों से डर ?
बांसुरी जो बजी है,
कहीं उस किनारे पै जागा है जीवन.
पवन के सहारे पुकारें जो आतीं
उसी जिन्दगी की कहानी सुनातीं
पुकारें उठें और जवानी न जागे ?
जवानी जगे और जमाना न बदले ?
हवा के झकोरे में बंसी के ये स्वर
सुरों में नई जिन्दगी के तराने
विभा से घुलीं ये चमकती दिशाएँ—
थिरकती दिशाओं में आई किरण ।
बहुत बेचैन है आज का पवन
और सागर में उठी हैं हिलोरें नई ।



# — लकीरें —



यह लकीर किसने खींची है ?
बांट रही है जो धरती को,
धरती के मालिक मनुष्य को,
चीर रही है जो मनुष्य के
अंतरतम को ?
शतदल की सौ पंखुरियां
सौ फूल नहीं हैं
एक फूल हैं ।
सागर में अनगिन हिल्लोरें
रूप-रंग में भिन्न
किन्तु सागर, सागर है
लहर नहीं है ।
किसके निष्ठुर हाथ
पंखुरियां इस शतदल की नोच रहे हैं ?
कौन जलाता आज चला है इस मधुवन को ?
यह लकीर तुम खींच रहे हो ?
बुरा काम है,
इन कलियों के मधु-अंचल में
तुम अपनी कल्मष-चिनगारी
और न फेंको
जल जाओगे,

और न रोको
जन जाह्नवि की
प्रखर धार को
वह जाओगे.
और जान लो—
धरा एक है,
धरती का इन्सान एक है,
प्राण एक है,
जगती का विशाल अमृत-घट
स्नेह-तरंगित,
बंधु ! गरल की कड़वी बूंदें
सुधा-चषक में और न घोलो.
सीमाओं का नाग-पाश यदि फैलाओगे
बंधु ! जहर से जल जाओगे,
मन-प्राणों को
इस बन्धन में
और न बांधो,
हे विराट !
ये क्षुद्र लकीरें और न खींचो—
शतदल की सौ पंखुरियां
सौ फूल नहीं हैं—
एक फूल है।



# — ज़हर के दांत —



सोया सोया प्यार जगाकर
खिली धूप में
खेल चला है,
यह प्रभात कितना सुन्दर है !
ये इस तरु के
सघन शिखर पर
रवि का रेशम
मृदु चमकीला
बिछल रहा है,
और सुनहली इन किरणों में
लिपटी, लिपटी
सहमी, सकुची
यह बुलबुल अपने प्रियतम से
प्यार जगाती।
धन्य भाग्य ! मैं देख रहा हूँ
इस विहगी का प्रणय-निवेदन
धन्य भाग्य ! मैं देख रहा हूँ
दो निश्छल,
अकलुष हृदयों का
यह नैसर्गिक प्यार
मधुरतम
खिली धूप में।

मै ?
हां, मैं ही,
मनु का वंशज
इस अखण्ड धरती का स्वामी
सप्त सिंधु का अडिग अधीश्वर
नभ के पवनों का संचालक
शक्ति प्रणेता,
सोच रहा हूँ—
किस फन्दे से वश में कर लूँ
विहग-युगल को,
पंख नोच लूँ ।

क्या ?
यह बुलबुल तो गाती है ।
मैं असीम कल्मष का धारी
मनु का वंशज
चीख रहा हूँ
तीव्र जलन से
घृणा-द्वेष से—
और स्वप्न सी प्रणय रज्जु में
लिपटा-भूला
यह बुलबुल का निर्बल जोड़ा
चहक रहा है ?
नोच रहा है—
अपनी ये जहरीली दाढ़ें

अभी गड़ा दूँ
और, हृदय के विष की ऐसी फूंक लगाऊँ--
जल जाए धरती का सारा स्नेह-समर्पण,
इस प्रभात का सारा मंगल
जल भुन जाए,
बुलबुल के बिखरे पंखों पर
बुझी राख पर
दांत गड़ाए
फन फैलाए
मैं सुख की दो सांसें ले लूँ।



# प्राण ! तुम्हारे............ ।

प्राण ! तुम्हारे श्वेत कमल सी
इन आँखों में
मधु का कितना ज्वार उमड़ता !
इतना सब कुछ सह पाऊँगा ?
मैं मधुरस का लोभी षट्पद
बैठ तुम्हारे पास
सोचता
क्या इस नन्दन की कलिका को
पावन,
मधुमय,
मैं अपने अतृप्त अधर के
कलुषित चुम्बन से
छू डालूँ ?
मुझे लग रहा-
युग बीते
मैं बैठ तुम्हारे पास
यही कुछ सोच रहा हूँ ।
किन्तु आज यह क्या परिवर्त्तन ?
प्राण ! तुम्हारे शुभ्र दृगों में
श्वेत कमल से,
मेरी आँखों का रोदन

यह

लाल-लाल सा

क्यों प्रतिबिम्बित ?

सुधा कलश का अमृत

अंगूरी बन आया !

और स्फटिक-पावन कपोल पर

ऊषा का अनुराग लजीला

बिछल पड़ा क्यों ?

हिम-शीतल अधरों पर

यह बिजली की लहरें !

प्राण !

और भी

मेरे उर पर छाया जाता है

यह किसका आत्मनिवेदन ?

इतना सब कुछ सह पाऊँगा ?

प्राण !

तुम्हारे मुग्ध नयन के

मधु-सागर में

बह पाऊंगा ?

प्राण ! तुम्हारे ........................ ।



# किस बीन के छिड़े ये तार ?



*किस बीन के छिड़े ये तार*
*किस पवन से उठी ये पुकार*
*कौन कहे ?*
*किसे ये होश, कि, पिलाई किसने ?*
*किसे ये ख्याल कि नशा आया क्यों कर ?*
*ये आग जो लगी आज*
*लगाई किसने ?*
*यही क्या कम कि जले जाते हैं*
*ये नशा, और*
*ये राह हमारी, कि चले जाते हैं ।*
*किसे ये फ़िक्र कि काँटों से गुज़रना है :*
*ये जो सीने से टपकता है लहू*
*एक नहीं,*
*हर सीने से—*
*ये रुके कैसे, कौन कहे ?*
*जब टपकता हो लहू हर सीने से*
*जब बरसती हों सभी की आँखें*
*और लगी हो आग सभी साँसों में,*
*तब किसे ये फ़िक्र कि काँटों से गुज़रना है :*
*किसे ये ख्याल—*
*ये आग जो लगी आज, लगाई किसने ?*

और ये आकाश में आए बादल
ये बिजली की तड़प
अंधकार
आरपार ।
किस प्राण के जले ये दीप–
ये बिजली की चमक लौट चली,
किस कंठ से फूटे निर्झर–
ये धरा महक चली,
किस राग का लहरा अंचल–
कि झरा प्यार
बेशुमार
कौन कहे ?
किस बीन के छिड़े ये तार………… ।



1281